॥ श्रीः ॥

चौखम्बा राष्ट्रभारती ग्रन्थमाला
१०

भाषा-विज्ञान

(समीक्षात्मक अध्ययन : प्रश्नोत्तर रूप में)

लेखक

डॉ० चक्रधर कर्णाटक

एम० ए० (हिन्दी, भाषाविज्ञान)

साहित्याचार्य, पी-एच्० डी०

प्रवक्ता : हिन्दी विभाग

राजकीय इण्टर कालेज, घुमेटीधार (टिहरी गढवाल)

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वा रा ण सी

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३३३४३१

प्रथम संस्करण १९९१

मूल्य १५–००

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., बंगलो रोड, जवाहरनगर

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : २३६३९१

*

प्रमुख वितरक

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३२०४०४

मुद्रक

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

दो शब्द

प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं में भाषा विज्ञान का अध्ययन अनिवार्य रूप में होता है। भाषा विज्ञान विषय से स्नातकोत्तर कक्षा में अध्ययन करते समय हमने यह अनुभव किया कि हिन्दी और अंग्रेजी में इस विषय पर अच्छी से अच्छी विद्वत्तापूर्ण पुस्तकों के होते हुए भी कोई एक ऐसी पुस्तक नहीं है, जिसमें विद्यार्थियों के लिए उपयोगी एवं अपेक्षित सामग्री एक ही स्थान पर सुलभ हो। प्रस्तुत पुस्तक 'भाषा विज्ञान : एक समीक्षात्मक अध्ययन' इसी प्रेरणा का साकार परिणाम है।

यह पुस्तक मूल रूप से विद्यार्थियों के दृष्टिकोण से लिखी गई हैं, इसलिए इसमें प्रश्नोत्तर शैली अपनायी गयी है; साथ ही सभी आवश्यक प्रश्नों पर विचार किया गया है। ऐसा करते समय यह ध्यान रखा गया है कि प्रश्न का उत्तर विद्यार्थी के स्तर का हो, फिर भी विषय-विवेचन का ढंग तथा प्रस्तुतीकरण ऐसा है कि यह अन्य जिज्ञासु पाठकों के लिए भी उपयोगी होगी, ऐसा मुझे विश्वास है। यद्यपि इसमें कुछ चुने हुए प्रश्नों को ही स्थान मिला है फिर भी छात्रोपयोगी होने के कारण इसकी भाषा सरल एवं व्यावहारिक ही व्यवहृत हुई है। विषय का वैज्ञानिक विवेचन, ठोस सामग्री का प्रस्तुतीकरण, सरल तथा व्यावहारिक भाषा का प्रयोग इस पुस्तक की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

इस पुस्तक में मेरा कुछ नहीं है; जो कुछ भी इसमें है, वह सब इस विषय पर कठिन परिश्रम करने वाले अपने अग्रजों से ही चिन्तन सामग्री के रूप में मुझे मिला है। उन सबका मैं चिरऋणी हूँ तथा नतमस्तक होकर उनका आभार स्वीकार करता हूँ।

अन्त में उन सभी विद्वानों का हृदय से आभारी हूँ, जिनकी पुस्तकों से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस पुस्तक की रचना में सहायता ली गयी है।

आशा है अपने इस संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत पुस्तक 'भाषा विज्ञान : एक समीक्षात्मक अध्ययन' विद्यार्थी पाठकों के लिए उपादेय सिद्ध होगी, क्योंकि यह उन्हीं को दृष्टि में रखकर लिखी गई है। इस पुस्तक के सन्दर्भ में जो भी उपयोगी सुझाव मुझे मिलेंगे, उनका सहर्ष स्वागत है।

अप्रैल १९९१ विनीत

चक्रधर कर्नाटक

प्रश्न-सूची

॥ श्रीः ॥

भाषा-विज्ञान

(समालोचनात्मक अध्ययन)

(१) **प्रश्न**—भाषाविज्ञान किसे कहते हैं ?

(अथवा)

भाषाविज्ञान की परिभाषा देते हुए उसका अन्य शास्त्रों से क्या सम्बन्ध है ? स्पष्ट कीजिए।

(अथवा)

भाषाविज्ञान कला है अथवा विज्ञान ?

उत्तर—भाषाविज्ञान उस शास्त्र को कहते हैं, जिसमें भाषा मात्र के भिन्न-भिन्न अंगों और स्वरूपों का विवेचन तथा निरूपण किया जाता है। मनुष्य किस प्रकार बोलता है, उसकी बोली का किस प्रकार विकास होता है, बोली और भाषा में कब, किस प्रकार और कैसे-कैसे परिवर्तन होता है, किसी भाषा में दूसरी भाषाओं के शब्द आदि किन-किन नियमों के अधीन होकर मिलते हैं, कैसे एक भाषा परिवर्तित या विकसित होकर पूर्णतया स्वतन्त्र एक दूसरी भाषा का रूप धारण कर लेती है, इन विषयों तथा इनसे सम्बन्ध रखने वाले अन्य सभी उप-विषयों का भाषाविज्ञान में अध्ययन होता है। इसमें शब्दों की उत्पत्ति, रूप-विकास तथा वाक्यों की बनावट आदि विषयों पर विचार किया जाता है। संक्षेप में भाषाविज्ञान की सहायता से हम किसी भाषा का वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन, अध्ययन और अनुशीलन करना सीखते हैं।

'भाषाविज्ञान' नाम से ही प्रकट होता है, यह शास्त्र भाषा का विज्ञान है। 'भाषायाः विज्ञानं भाषाविज्ञानम्' अर्थात् भाषा का विज्ञान। इस प्रकार 'भाषाविज्ञान' एक समासयुक्त पद है। 'भाषा' और 'विज्ञान' इन दो

शब्दों से बना यह नाम इस शास्त्र की आत्मा एवं स्वरूप का पूर्णतया परिचय करा देने में समर्थ है। 'भाषा शब्द संस्कृत की 'भाष् व्यक्तायां वाचि' धातु, जिसका अर्थ व्यक्त वाक् है, से निष्पन्न है तथा 'विज्ञान' शब्द 'वि' उपसर्ग-पूर्वक 'ज्ञा' धातु से 'ल्युट्' (अन) प्रत्यय लगाने पर बनता है। भाषाविज्ञान को समझने के लिए इन दोनों शब्दों पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

भाषा—दण्डी के शब्दों में—

"इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥" —काव्यादर्श १।४

अर्थात् यह सम्पूर्ण भुवन अन्धकारपूर्ण हो जाता, यदि संसार में शब्द-स्वरूप ज्योति (भाषा) का प्रकाश न होता। अपने व्यापकतम रूप से तो भाषा वह साधन है, जिसके माध्यम से हम सोचते हैं तथा अपने विचारों को व्यक्त करते हैं, किन्तु भाषाविज्ञान में हम जिस भाषा का अध्ययन-विश्लेषण करते हैं, वह इतनी व्यापक नहीं है। उसमें हम उन सभी साधनों को नहीं लेते, जिनके द्वारा हम विचारों को व्यक्त करते हैं; और न उसे लिया जाता है, जिसके द्वारा हम सोचते हैं। भाषा उसे कहते हैं, जो बोली और सुनी जाती है और बोलना भी पशु-पक्षियों का नहीं, गूंगे मनुष्यों का भी नहीं, केवल बोल सकने वाले मनुष्यों का।

भाषा की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं—

प्लेटो के शब्दों में—'विचार और भाषा में थोड़ा ही अन्तर है। विचार आत्मा की मूक या अध्वन्यात्मक बातचीत है, परन्तु वही जब ध्वन्यात्मक होकर होठों पर प्रकट होती है, तो उसे भाषा की संज्ञा देते हैं।'

स्वीट के अनुसार—'ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा विचारों को प्रकट करना ही भाषा है'।

वेन्द्रिए कहते हैं—'भाषा एक तरह का संकेत है। संकेत से आशय उन प्रतीकों से है, जिनके द्वारा मानव अपने विचार दूसरों पर प्रकट करता है। ये प्रतीक कई प्रकार के होते हैं। जैसे—नेत्रग्राह्य, कर्णग्राह्य और स्पर्शग्राह्य। वस्तुतः भाषा की दृष्टि से कर्णग्राह्य प्रतीक ही सर्वश्रेष्ठ हैं'।

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका—'Language may be defined as an arbitrary system of vocal symbols by means of which

human beings as members of a social group and participants in culture interact and communicate.'

सामान्य रूप से भाषा उसे माना जाता है, जिसके माध्यम से हम अपने विचार या भाव दूसरों तक पहुँचा सकें, किन्तु इसमें अतिव्याप्ति दोष है।

वास्तव में भाषा एक विकसनशील, विश्लेषण-सापेक्ष, यादृच्छिक एवं ध्वनिमूलक सार्थक व्यवस्था है। भाषा की इन परिभाषाओं से निम्न विशेषताएँ हमारे सामने आती है—

१. भाषा विचार-विनिमय का साधन है।

२. भाषा उच्चारणावयवों से निःसृत ध्वनि समष्टि होती है।

३. भाषा में प्रयुक्त ध्वनि-समष्टियाँ सार्थक तो होती है, किन्तु उनका भावों या विचारों से सम्बन्ध यादृच्छिक या माना हुआ होता है।

४. भाषा एक व्यवस्था होती है।

५. भाषा का प्रयोग एक विशेष समाज या वर्ग में होता है। उसी में वह बोली और समझी जाती है।

उपर्युक्त सारी विशेषताओं को दृष्टिगत रखते हुए डॉ० भोलानाथ तिवारी ने भाषा की निम्न परिभाषा दी है—"भाषा उच्चारण-अवयवों से उच्चरित, यादृच्छिक (Arbitrary) ध्वनि-प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके किसी भाषा समाज के लोग आपस में विचारों का आदान-प्रदान करते हैं।"

विज्ञान—'विज्ञान' शब्द का अर्थ है—विशिष्ट ज्ञान। जिस प्रकार विज्ञान प्रत्येक वस्तु के अंग-प्रत्यंग एवं सूक्ष्मतम अवयव का विवेचन और विश्लेषण करता है, उसी प्रकार भाषाविज्ञान वर्ण, पद और वाक्य के सूक्ष्मतम अवयवों का विवेचन एवं विश्लेषण करता है।

भाषा-विज्ञान कला नहीं है—कला का सम्बन्ध मानवरचित वस्तुओं या विषयों से होता है। इसी कारण कला व्यक्ति-विशिष्ट होने के साथ देश-विशिष्ट एवं काल-विशिष्ट भी हुआ करती है। कला का सम्बन्ध हृदय की रागात्मिका वृत्ति से होता है, किन्तु भाषाविज्ञान का सम्बन्ध हृदय से न होकर बुद्धि से है। वह हमारा मनोरञ्जन नहीं, अपितु ज्ञानपिपासा की तृप्ति करता है।

भाषाविज्ञान की परिभाषा—भाषाविज्ञान के उपर्युक्त सामान्य परिचय के उपरान्त अब भाषाविज्ञान के सम्बन्ध में कतिपय भारतीय एवं विदेशी विद्वानों के मतों का अवलोकन कर एक निष्कर्ष में पहुँचने का प्रयत्न करेंगे।

१. 'भाषाविज्ञान भाषा की उत्पत्ति, उसकी बनावट, उसके विकास तथा उसके ह्रास की वैज्ञानिक व्याख्या करता है।'

—डॉ० श्यामसुन्दर दास, भाषा-रहस्य।

२. 'जिस विज्ञान के अन्तर्गत वर्णनात्मक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन के सहारे भाषा की उत्पत्ति, गठन, प्रकृति एवं विकास आदि की सम्यक् व्याख्या करते हुए, इन सभी के विषय में सिद्धान्तों का निर्धारण हो, उसे भाषाविज्ञान कहते हैं।' —डॉ० भोलानाथ तिवारी, भाषाविज्ञान

३. 'भाषाविज्ञान वह विज्ञान है, जिसमें मानव प्रयुक्त व्यक्त वाक् का पूर्णतया वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है'।

—डॉ० कर्णसिंह, भाषाविज्ञान।

४. 'भाषातत्त्वों का अध्ययन भाषाविज्ञान का अध्ययन है।'

—डॉ० बाबूराम सक्सेना

५. 'Comparative philology or simply philology is the science of language. Philology strictly means the study of a language from the literary point of view.'—Dr. P. D. Gune, An Introduction to Comparative Philology.

६. 'General linguistics may be defined as the science of language.' —R. H. Robins, General Linguistics, p. 1.

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं में कोई न कोई कमी अवश्य है, किन्तु इतना स्पष्ट है कि भाषाविज्ञान भाषा मात्र का व्यवस्थित अध्ययन है। अतः हम कह सकते हैं कि भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन ही भाषाविज्ञान है।

भाषाविज्ञान से अनेक ज्ञानों, विज्ञानों एवं शास्त्रों के अनेक स्तरों में विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध हैं। यहाँ कुछ प्रमुख विषयों के साथ भाषाविज्ञान का सम्बन्ध स्पष्ट किया जा रहा है।

व्याकरण—भाषाविज्ञान और व्याकरण एक दूसरे से इतने समीप हैं कि कभी-कभी दोनों को एक या भाषाविज्ञान को व्याकरण तथा व्याकरण को भाषाविज्ञान मानने का भ्रम लोगों को हो जाता है। व्याकरण को हम शास्त्र

कह सकते हैं, जो इस बात के निर्देश पर अधिक बल देता है कि भाषा में कहाँ और कैसा प्रयोग होना चाहिए तथा कैसा प्रयोग शुद्ध है और कैसा अशुद्ध। इसके विपरीत भाषाविज्ञान वह विज्ञान है, जिसका सम्बन्ध इस आदर्श से नहीं है कि कहाँ और कैसा प्रयोग होना चाहिए। वह तो केवल इस बात को जानना चाहता है कि कब, कहाँ और कैसा प्रयोग होता है। व्याकरण विवरण और वर्णन प्रधान है, तो भाषाविज्ञान विवेचन और विश्लेषण प्रधान। एक और प्रमुख अन्तर यह है कि व्याकरण केवल भाषा का रूप आदि देकर चुप हो जाता है, जब कि भाषाविज्ञान गहराई में जाकर यह भी पता लगाता है कि वह रूप क्या है, कहाँ से आया है, कितना पुराना है, आदि। उदाहरण के लिए व्याकरण यह कहकर चुप हो जायेगा कि 'जा (ना)' का भूतकाल का रूप 'गया' होता है, किन्तु भाषाविज्ञान बतलाएगा कि मूलतः 'गया' का 'जा' से कोई सम्बन्ध नहीं है। संस्कृत में 'गम्' और 'या' दो धातुएँ थीं। 'या' से 'जा' का विकास हुआ, जिससे जाता, जाना, जाये, जाया आदि रूप बनते हैं। 'गम्' से हिन्दी में केवल एक ही रूप 'गया' बना। अकेला रूप होने के कारण इसके लिए अलग धातु की कल्पना नहीं की गई और इसे भी 'जा' का रूप ही मान लिया गया। इस तरह भाषाविज्ञान व्याकरण का भी व्याकरण है। जहाँ तक सम्बन्धों का प्रश्न है, भाषा के अध्ययन में दोनों एक-दूसरे के पूरक तो हैं ही, साथ ही 'अन्योन्याश्रित भी हैं। बिना व्याकरण की जानकारी के अच्छा व्याकरण नहीं लिखा जा सकता। दूसरी ओर भाषाओं के विश्लेषण में भी भाषाविज्ञान व्याकरण से पर्याप्त सामग्री और सहायता लेता है।

साहित्य—भाषाविज्ञान भाषा के अध्ययन के लिए (जीवित भाषाओं के जीवित रूप को छोड़कर) सारी सामग्री साहित्य से लेता है। भाषाविज्ञान सम्बन्धी अधिकांश नियमों और सिद्धान्तों की रचना साहित्य के ही सहारे होती है, क्योंकि भाषा और रूप-परिवर्तन का ज्ञान कराने वाली समस्त सामग्री साहित्य में रक्षित रहती है। साहित्य-सम्पन्न भाषाएँ साहित्य द्वारा रक्षित होकर अमर हो सकती हैं। ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन तो तुलनात्मक भाषाओं का ही हो सकता है। यदि आज संस्कृत, अवेस्ता या ग्रीक साहित्य हमारे सामने न होता, तो भाषाविज्ञान किस आधार पर यह कह पाता कि ये तीनों भाषाएँ किसी एक ही मूल से निकली हैं?

भाषाविज्ञान की सहायता से प्राचीन साहित्य का अर्थ ठीक-ठीक समझने में भी सहायता मिलती है। भाषाविज्ञान का विद्यार्थी जानता है कि प्राचीन वैदिक साहित्य में 'असुर' शब्द का अर्थ 'प्राणवान्' (असु+र) है, किन्तु बाद के संस्कृत साहित्य में वह 'राक्षस' या 'दानव' (अ+सुर) का वाचक बन गया है। इस अर्थपरिवर्तन का कारण भाषाविज्ञान ही बतलाता है। भाषाविज्ञान एक विज्ञान है, जब कि साहित्य कला है। दोनों में पर्याप्त अन्तर है। भाषाविज्ञान में भाषा का अध्ययन उसके स्वरूप को जानने के लिए किया जाता है, जब कि साहित्य में भाषा का अध्ययन साहित्य के अर्थ को समझने के लिए किया जाता है। साथ ही ये दोनों एक-दूसरे के उपकारी भी हैं।

भाषाविज्ञान तथा मनोविज्ञान—भाषाविज्ञान तथा मनोविज्ञान, दोनों ही विज्ञान हैं। एक में यदि भाषा का अध्ययन किया जाता है, तो दूसरे में मानव-मन का। 'भाषा' और 'मन' का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन की प्रेरणा से ही भाषा प्रस्फुटित होती है। फलतः इससे सम्बन्धित विज्ञानों का परस्पर सम्बन्धित होना भी स्वाभाविक ही है।

भाषाविज्ञान के अन्तर्गत शब्दों का अर्थपरिवर्तन एवं ध्वनिपरिवर्तन आदि कई समस्याओं का समाधान मनोविज्ञान के सहारे ही किया जाता है। भाषा विचारों की वाहिका है और विचारों का सीधा सम्बन्ध मस्तिष्क तथा मनोविज्ञान से है। इस प्रकार भाषा की आन्तरिक गुत्थियों को सुलझाने में भाषाविज्ञान मनोविज्ञान से बहुत अधिक सहायता लेता है। विशेषतः अर्थ-विज्ञान तो पूर्णतः मनोविज्ञान पर ही आधारित है। पागलों के मनोवैज्ञानिक उपचार में उनके द्वारा कही गई बातों का विश्लेषण करने में भाषाविज्ञान से काफी सहायता मिलती है।

इसके अतिरिक्त और भी अनेक ऐसे विज्ञान हैं, जिनका भाषाविज्ञान से कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है। उदाहरण के लिए सामाजिक और राजनीतिक इतिहास, साधारण और प्राकृतिक भूगोल, प्रकृतिविज्ञान, समाजशास्त्र आदि सभी का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भाषाविज्ञान के साथ कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य होता है। भाषा पर राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनों का बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। अपभ्रंश को देशव्यापी बनाने का प्रधान कारण आभीरों का राजनीतिक प्रभुत्व था। शकों और हूणों तथा मुसलमानों और यूरोपियनों

के आगमन एवं संसर्ग का प्रभाव यहाँ की भाषा और व्याकरण पर स्पष्ट है। देश की भौगोलिक स्थिति से भी भाषा का बहुत अधिक सम्बन्ध है। यहाँ तक कि जलवायु का भी भाषा पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। समय पाकर लोग अनेक पुराने उच्चारण भूल जाते हैं और नये उच्चारण करने लगते हैं। प्राचीन काल के ऋ, ॠ, ऌ, और ॐ का उच्चारण सब लोग भूल से गये हैं। 'ज्ञ' के उच्चारण से भिन्न-भिन्न प्रान्तों में बहुत कुछ अन्तर देखने में आता है। ये सब परिवर्तन अनेक भिन्न-भिन्न कारणों से होते हैं और जिन-जिन विज्ञानों में इन कारणों का विवेचन होता है, उन सब विज्ञानों के साथ भाषा-विज्ञान का कुछ न कुछ सम्बन्ध रहता है।

(२) **प्रश्न**—भाषाविज्ञान के विभिन्न प्रकारों पर प्रकाश डालिए।

(अथवा)

भाषाविज्ञान के अध्ययन की पद्धतियों का आलोचनात्मक परिचय दीजिए।

उत्तर—भाषा का पूर्ण वैज्ञानिक अध्ययन ही भाषाविज्ञान है और किसी भी विषय का पूर्ण वैज्ञानिक अध्ययन तभी सम्भव होता है, जब हम एक निश्चित प्रक्रिया को अपनाकर उसमें प्रवृत्त होते हैं। भाषाविज्ञान भी किसी भाषा के कारण कार्यमूलक युक्तिपूर्ण विवेचन-विश्लेषण के लिए कुछ निश्चित प्रक्रियाओं में बँधकर चलता है। इन्हें भाषाविज्ञान की अध्ययन पद्धतियों के नाम से जाना जाता है। अभी तक भाषाविज्ञान के पाँच प्रकार हमें उपलब्ध होते हैं—

(१) **वर्णनात्मक भाषाविज्ञान**—किसी विशेष भाषा को उसके बोलने वाले एक निर्धारित समय पर जिस रूप में प्रयुक्त करते हैं, उसके वर्णन एवं विश्लेषण का कार्य वर्णनात्मक भाषाविज्ञान का विषय होता है। यह निर्धारित समय वर्तमान एवं अतीत, दोनों ही हो सकते हैं। आज भी विश्व में अनेक ऐसी भाषाएँ हैं, जिन्हें किसी लिपि में नहीं लिखा गया है और वे केवल बोलचाल के रूप में ही प्राप्त हैं। कुछ ऐसी भी भाषाएँ हैं, जिन्हें अभी हाल में ही लिखित रूप प्रदान किया गया है। ऐसी भाषाओं की पूर्वावस्था के कतिपय तत्त्वों को यद्यपि पुनर्निर्माण से हम जान सकते हैं तथापि सामान्य रूप से वर्तमान में ही इनका विश्लेषण एवं अध्ययन कर सकते हैं। किसी विशेष काल में किसी भाषा में कितनी ध्वनियाँ थीं ? पदरचना कैसी थी ? वाक्यरचना कैसी थी ? आदि का इसमें विस्तार से वर्णन किया जाता है। इस प्रकार के अध्ययन

से हमें उस विशिष्ट भाषा का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है। पाणिनीय व्याकरण इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

(२) **ऐतिहासिक भाषाविज्ञान**—इसके अन्तर्गत भाषाओं के विकास का अध्ययन किया जाता है। समयानुसार भाषाओं में परिवर्तन होते रहते हैं। इस प्रकार का अध्ययन सामान्य रूप से किसी एक भाषा की दो विभिन्न अवस्थाओं को लेकर किया जाता है। उदाहरणार्थ वैदिक-संस्कृत, संस्कृत, पालि एवं प्राकृत एक ही भाषा की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान में इन विभिन्न अवस्थाओं का अध्ययन प्रस्तुत करना ही अभीष्ट होता है।

यहाँ दो अन्य पारिभाषिक शब्दों को भी स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है। प्रथम—संकालिक एवं द्वितीय—द्वैकालिक। जब हम किसी निश्चित समय की भाषा का वर्णनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं, तो इस प्रकार के अध्ययन को 'संकालिक अध्ययन' कहते हैं। इसमें हम भाषा को, उस समय के लिए सर्वथा परिवर्तनरहित एवं विचार-संवहन की स्वतः पूर्ण ईकाई के रूप में कल्पना कर लेते हैं। द्वैकालिक अध्ययन में ठीक इसी प्रकार की कल्पना किसी भाषा की दो अवस्थाओं के अध्ययन के सम्बन्ध में की जाती है।

(३) **तुलनात्मक भाषाविज्ञान**—इसमें किन्हीं दो या दो से अधिक भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। जिन भाषाओं को अध्ययन का विषय बनाया जाता है, उनके विभिन्न अङ्गों की तुलना किसी एक काल के आधार पर अथवा विभिन्न कालों के आधार पर की जाती है। इस तुल-नात्मक अध्ययन की भी अपनी प्रक्रिया होती है। इस तरह का तुलनात्मक अध्ययन कभी तो किसी परिवार की विविध भाषाओं के ऐतिहासिक सम्बन्ध के ज्ञान के लिए किया जाता है तथा कभी-कभी तो यह विभिन्न भाषाओं की समरूपता को दृष्टि में रखकर किया जाता है।

(४) **संरचनात्मक भाषाविज्ञान**—इसमें भाषा में प्रयुक्त सभी तत्त्वों का पारस्परिक विशिष्ट सन्दर्भ में क्रमशः अध्ययन किया जाता है। भाषा-विज्ञान के 'जेनेवा स्कूल' से सम्बद्ध, स्विट्जरलैण्ड-निवासी 'द सस्यूर' को संरचनात्मक भाषाविज्ञान का जनक कहा जाता है। पहले 'जेनेवा स्कूल' और उसके पश्चात् 'प्राहा स्कूल' इस भाषाविज्ञान का केन्द्र रहा है। आजकल पाश्चात्य देशों में इस पर पर्याप्त कार्य हो रहा है। भाषा के अध्ययन में संर-

चनात्मक भाषाविज्ञान से गणित के समान ही निश्चित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं, इसी का नाम 'गठनात्मक भाषाविज्ञान' भी है।

(५) **प्रायोगिक भाषाविज्ञान**—इसमें उपर्युक्त चारों पद्धतियों को प्रयोग में लाना सिखलाया जाता है अर्थात् उनका व्यावहारिक ज्ञान कराया जाता है। देशी अथवा विदेशी भाषा को सिखलाने की पद्धति, उच्चारण सिखलाने की प्रक्रिया, एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करने की शैली, भाषा-अध्ययन के लिए आविष्कृत यन्त्रों एवं उपकरणों का व्यावहारिक ज्ञान तथा भाषा-सर्वेक्षण की पद्धति आदि भी प्रायोगिक भाषाविज्ञान के ही अन्तर्गत हैं। भाषाविज्ञान की यह पद्धति आधुनिकतम है तथा इसका विकास अभी हो ही रहा है।

(३) **प्रश्न**—भाषाविज्ञान के अध्ययन के अंगों अथवा विभागों का संक्षेप में परिचय दीजिए और उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।

(अथवा)

भाषाविज्ञान का क्षेत्र निरूपित कीजिए और उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—जो क्षेत्र मानव और उसकी भाषा का है, वही क्षेत्र भाषाविज्ञान का भी है। भाषाविज्ञान का सम्बन्ध न केवल विश्वभर के सभ्य मनुष्यों की भाषाओं से है, अपितु असभ्य एवं वन्य मनुष्यों की बोलियों से भी है। इस प्रकार भाषाविज्ञान में मात्र साहित्यिक भाषाओं का ही वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया जाता, अपितु असाहित्यिक और मात्र बोलचाल की भाषाओं का अध्ययन भी किया जाता है। साथ ही मृत कही जाने वाली भाषाओं का अध्ययन भी भाषाविज्ञान के क्षेत्र के ही अन्तर्गत है।

भाषाविज्ञान का सम्बन्ध किसी भाषा के किसी एक विशेष काल के तथ्यों से ही नहीं, अपितु सभी कालों के तथ्यों से होता है, जिन्हें भाषाविज्ञान न केवल एकत्र व्यवस्थित और वर्गीकृत करता है, अपितु उनके आधार पर सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण भी करता है। तुलनात्मक भाषाविज्ञान में विशेष रूप से भाषा के जीवन के भिन्न-भिन्न कालों के तथ्यों का तुलनात्मक अध्ययन करके भाषा का इतिहास प्रस्तुत किया जाता है। इनमें ध्वनियों के

उच्चारण, उनसे बने अक्षरों, अक्षरों से बने शब्दों-पदों और उनसे बने वाक्यों की रचना आदि अनेक विषयों का विवेचन किया जाता है। इसमें भाषा की उत्पत्ति, उसका विकास अर्थात् उसमें हुए परिवर्तन आदि सभी महत्त्वपूर्ण विषय समाहित रहते हैं।

भाषाविज्ञान के अंग—वस्तुतः भाषाविदों का कार्य संसार की भाषाओं की बोलियों का अध्ययन प्रस्तुत करना है। भाषा का अध्ययन चाहे वह वर्णनात्मक, ऐतिहासिक या तुलनात्मक हो, उसे विश्लेषणात्मक रूप में ही प्रस्तुत करना पड़ता है। यदि हम भाषा का अध्ययन करना चाहें, तो ज्ञात होगा कि वह वाक्यों का समूह है। वाक्यों का अध्ययन करने पर विदित होगा कि वह कुछ सार्थक शब्दों का समूह है। इन सार्थक शब्दों का विश्लेषण करने पर स्वनिम (ध्वनिग्राम) की प्राप्ति होती है। अतः किसी भी भाषा का अध्ययन सुगमता के लिए इन्हीं चार तत्त्वों—स्वन (ध्वनि), स्वनिम (ध्वनिग्राम), पद, वाक्य के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इस दृष्टि से भाषाविज्ञान में अध्ययन के प्रमुख अंग निम्नलिखित हैं—

(क) ध्वनिविज्ञान (Phonology)
(ख) पदविज्ञान (Morphology)
(ग) वाक्यविज्ञान (Syntax)
(घ) अर्थविज्ञान (Semantics)

(क) ध्वनिविज्ञान—व्यक्त वाक् या मानव-भाषा के अध्ययन का सर्वप्रमुख तत्त्व ध्वनि है। ध्वनि (वर्ण) के अभाव में भाषा का भवन निर्मित नहीं हो सकता। अतः भाषाविज्ञान में भी ध्वनि के अध्ययन को सर्वप्रमुख स्थान दिया जाता है और इस प्रकार का अध्ययन ध्वनिविज्ञान कहा जाता है। ध्वनिविज्ञान के अन्तर्गत सर्वप्रथम मानव-शरीर के उच्चारण-उपयोगी अवयवों; जैसे—स्वरयंत्र, मुख, जिह्वा, तालु आदि का परिचय कराया जाता है। इसके उपरान्त उनसे उत्पन्न ध्वनियों (वर्णों) का उच्चारण-स्थान और उच्चारण-प्रयत्न की दृष्टि से वर्गीकरण किया जाता है। पुनः कालक्रम से उन ध्वनियों में कब-कब और कैसे-कैसे विकार हुए, यह बतलाया जाता है। उन विकारों के कारणों को प्रस्तुत किया जाता है और उस अध्ययन के आधार पर कुछ निश्चित ध्वनि-नियमों का निर्धारण किया जाता है।

संक्षेप में उच्चारण-अवयव, ध्वनियों की संख्या और उनका वर्गीकरण, ध्वनि-विकार की दिशाएँ और कारण तथा ध्वनि-नियम आदि ध्वनिविज्ञान के विषय हैं।

(ख) **पदविज्ञान**—ध्वनियों को मिलाकर शब्द या पद बनाये जाते हैं। अत: ध्वनियों के अध्ययन के उपरान्त भाषाविज्ञान में द्वितीय स्थान पर पद-विज्ञान का महत्त्व है। इसके अन्तर्गत पदरचना या पदों का निर्माण, उनके भेद; जैसे—संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, अव्यय आदि पदांश अर्थात् पद के अर्थ-सूचक तथा सम्बन्ध-सूचक अंश; जैसे—धातु, प्रत्यय, उपसर्ग आदि का विचार किया जाता है।

(ग) **वाक्यविज्ञान**—जिस प्रकार ध्वनियों से पद बनते हैं, उसी प्रकार पदों से वाक्य बनते हैं। वाक्यविज्ञान के अन्तर्गत वाक्य-रचना किस प्रकार होती है? कितने प्रकार के वाक्य होते हैं? आदि विषयों पर ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाता है।

(घ) **अर्थविज्ञान**—ध्वनि, पद और वाक्य भाषा का शरीर है तथा अर्थ भाषा की आत्मा है। अत: अर्थविज्ञान भी भाषाविज्ञान का महत्त्वपूर्ण अंग है। अर्थविज्ञान के अन्तर्गत शब्दों या पदों का निश्चित अर्थों में निर्धारण कैसे हुआ, कालक्रम से उनके अर्थ में हुए परिवर्तन तथा उस अर्थपरिवर्तन के कारण क्या हैं? आदि विषयों पर विचार किया जाता है।

इसके अतिरिक्त निम्न विषयों की भी भाषाविज्ञान के अंगों में गणना की जाती है—

१. **कोशविज्ञान** (Lexicology)—किसी भाषा में प्रयुक्त समस्त अर्थ-युक्त तत्त्वों का वर्णानुक्रम-रूप में सूचीबद्ध करना ही उस भाषा का कोश बनाना कहा जाता है। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का वैदिक भाषा से सम्बन्धित 'निघण्टु' ग्रन्थ इसका प्राचीनतम उदाहरण है। भाषा में प्रयुक्त शब्दों की व्युत्पत्ति, शब्दों के अर्थों का निर्धारण तथा कोश-निर्धारण की पद्धति आदि कोशविज्ञान का ही विषय है।

२. **भाषिक भूगोल** (Linguistic geography)—इसमें किसी भाषा-क्षेत्र की ध्वनि, रूप, वाक्य, अर्थ तथा शब्द आदि की दृष्टि से अध्ययन करके उसे भाषाओं और बोलियों में बाँटा जाता है। उत्तरी भारत में भारतीय आर्य-भाषा-परिवार की कितनी भाषाएँ हैं, उसकी कितनी बोलियाँ तथा उप-

बोलियाँ है एवं उनकी निश्चित सीमाएँ क्या हैं ? इस प्रकार का अध्ययन इसी के अन्तर्गत आता है। इसके अध्ययन में एककालिक, तुलनात्मक और ऐतिहासिक तीनों ही पद्धतियों को अपनाना पड़ता है। 'बोली भूगोल' का अध्ययन भी इसी के अन्तर्गत आता है।

उपर्युक्त प्रमुख अंगों तथा दो नवीन समाविष्ट अंगों के अतिरिक्त भाषा-विज्ञान के कुछ अन्य गौण अंग भी स्वीकार किये जाते हैं। जैसे—भाषा की उत्पत्ति, भाषाओं का वर्गीकरण, शब्द-व्युत्पत्ति, शब्दसमूह, लिपि, शैली, प्रागैतिहासिक खोज आदि विषयों पर धीरे-धीरे कार्य होता जा रहा है।

भाषाविज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता या प्रयोजन—सामान्यतया प्रत्येक विज्ञान स्वयं में एक निरपेक्ष अध्ययन होता है। उसके अध्ययन में उपयोगिता की अपेक्षा ज्ञानवर्द्धन का दृष्टिकोण ही अधिक रहता है। फिर भी मानव-स्वभाव उसमें कोई न कोई उपयोगिता खोज ही लेता है।

भाषाविज्ञान का अपना निरपेक्ष लक्ष्य तो यही है कि उसके द्वारा हम प्रत्येक भाषा अथवा बोली के विभिन्न अवयवों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन द्वारा उस भाषा-विशेष की संरचना का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानवर्द्धन में योग दें, परन्तु इस प्रकार के अध्ययन की व्यावहारिक उपयोगिता भी अस्वीकार नहीं की जा सकती। अतः भाषाविज्ञान के अध्ययन की कुछ महत्त्वपूर्ण उपयोगिताओं को हम निम्न प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

१. भाषाविज्ञान की सर्वप्रथम उपयोगिता तो यही है कि वह भाषा के सम्बन्ध में उत्पन्न हमारी सभी जिज्ञासाओं का समाधान करके न केवल हमें मानसिक सन्तोष प्रदान करता है, अपितु हमारी भाषा सम्बन्धी पकड़ को भी मजबूत बनाता है।

२. प्रागैतिहासिक खोजों के सम्बन्ध में भाषाविज्ञान की उपयोगिता बहुत अधिक है। भाषा की ऊपरी परत के नीचे इतिहास के न जाने कितने सन्-संवत् बिखरे पड़े हैं। वस्तुतः भाषा के प्रत्येक शब्द के बाह्य स्वरूप के भीतर विस्तृत आख्यान छिपे पड़े हैं। प्रागैतिहासिक काल के सम्बन्ध में अनेक तथ्यों का ज्ञान हमने भाषाविज्ञान के आधार पर ही प्राप्त किया है। विगत शताब्दी में मूल आर्य जाति तथा प्राचीन मिस्री और असीरी आदि जातियों की सभ्यता का उद्घाटन भाषाविज्ञान के द्वारा ही हो सका है।

३. किसी जाति या सम्पूर्ण मानवता के मानसिक विकास का प्रत्यक्षीकरण।

४. प्राचीन साहित्य के अर्थ, उच्चारण तथा प्रयोग आदि से सम्बद्ध समस्याओं का समाधान।

५. पूरे विश्व के लिए एक कृत्रिम भाषा का विकास (जैसे—एसपेरैन्तो आदि)।

६. मातृभाषाओं एवं विदेशी भाषाओं के सीखने में पूर्णता, सरलता और शीघ्रता।

७. एक भाषा से दूसरी भाषा में सटीक अनुवाद में सहायता।

८. अनुवाद करने वाली, स्वयं टाइप करने वाला टाइपराइटर तथा इसी प्रकार की अन्य मशीनों के विकास में सहायता।

९. भाषा, लिपि आदि में सरलता एवं शुद्धता आदि की दृष्टि से परिवर्तन-परिवर्द्धन करने में सहायता।

१०. किसी भाषा के लिए लिपि, उसका उच्चारण, कोश तथा उसे पढ़ाने के लिए पाठ्य-पुस्तक बनाने में सहायता।

११. तुतलाहट, हकलाहट, अशुद्ध उच्चारण, अशुद्ध श्रवण आदि दूर करने में सहायता।

१२. मनोविज्ञान, प्राचीन भूगोल, शिक्षा, समाजविज्ञान, दर्शन तथा इंजीनियरिंग (कम्यूनिकेशन) आदि में सहायता।

(४) **प्रश्न**—भाषा की परिभाषा देते हुए भाषा और बोली का अन्तर स्पष्ट कीजिए। बोली के भाषा बनने के कारणों को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—'वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते।' —काव्यादर्श १।३

अर्थात् वाणी की कृपा से ही लोकयात्रा चलती है। 'भाषा' का जीवन में पग-पग पर व्यवहार करने पर भी 'भाषा' शब्द का अर्थ बतलाना उतना सरल नहीं है। हम अभिप्राय व्यक्त करने के प्रत्येक साधन को; जैसे—इङ्गित, मुद्रा, मुखविकार आदि को भी सामान्य रूप से भाषा कह देते हैं, इसके अन्तर्गत पशु-पक्षियों की भाषा भी आ जाती है। यह भाषा का व्यापक अर्थ है; सामान्य अर्थ में मानव के भाव एवं विचार के संचार-माध्यम को भाषा कहते हैं।

भाषाविज्ञान में हम भाषा के उपर्युक्त दोनों अर्थों को छोड़कर एक विशिष्ट अर्थ के रूप में प्रयोग करते हैं। इसमें न तो हम मानवेतर प्राणियों की भाषा का अध्ययन करते हैं और न ही मनुष्य के आंगिक संकेतों का ही। भाषा-विज्ञान में हम केवल मौखिक भाषा, मानवकण्ठ से निःसृत यौक्तिक भाषा का ही अध्ययन करते हैं। अतः भाषाविज्ञान की दृष्टि से हम भाषा की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं—

१. जिन यादृच्छिक तथा विभिन्न अर्थों में रूढ़ ध्वनि-संकेतों के द्वारा मनुष्य अपने भावों–विचारों को अभिव्यक्त करता है, उन्हें भाषा कहते हैं।

2. 'The common definition of speech is the use of articulate sound-symbols for the expression of thought.'

—A. H. Gardiner

अर्थात् 'विचार की अभिव्यक्ति के लिए व्यक्त ध्वनि-संकेतों के व्यवहार को भाषा कहते हैं।'

—उपर्युक्त का श्री श्यामसुन्दरदास कृत अनुवाद 'भाषा-रहस्य'।

3. 'Language may be defined as the expression of thought by means of speech sounds. —Henry Sweet

4. 'A System of communication by sounds, i. e. through the organs of speech and hearing, among human beings of a certain group or community, using vocal symbols possessing arbitrary conventional meaning s.'

—Dictionary of Linguistics by Mario Apei and Frank Gaynor

अर्थात् 'मनुष्यों के वर्ग-विशेष में आपसी व्यवहार के लिए प्रयुक्त वे व्यक्त ध्वनि-संकेत, जिनका अर्थ पूर्व निर्धारित एवं परम्परागत है तथा जिनका आदान-प्रदान जिह्वा और कान के माध्यम से होता है।'

—उपर्युक्त का डॉ० रामेश्वर दयाल कृत अनुवाद, मुग्धबोध भाषाविज्ञान।

५. भाषा उच्चारणावयवों से उच्चरित अध्ययन-विश्लेषणीय यादृच्छिक (Arbitrary) ध्वनि-प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा एक समाज के लोग आपस में भावों और विचारों का आदान-प्रदान करते हैं।'

—डॉ० भोलानाथ तिवारी कृत 'भाषाविज्ञान'

६. 'जिन ध्वनि-चिह्नों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है, उनके समष्टिरूप को भाषा कहते हैं।'

—डॉ० बाबूराम सक्सेना कृत 'सामान्य भाषाविज्ञान'

७. 'विभिन्न अर्थों में संकेतित शब्द-समूह ही भाषा हैं, जिसके द्वारा हम अपने विचार या मनोभाव दूसरों के प्रति बहुत सरलता से प्रकट करते हैं।'

—आचार्य किशोरीदास वाजपेयी कृत 'भारतीय भाषाविज्ञान'

८. 'ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा हृदयगत भावों तथा विचारों का प्रकटीकरण ही भाषा है।'

—गुणे

९. 'भाषा ऐच्छिक वाक्य प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा मानव-समुदाय परस्पर सहयोग करता है।'

—ब्लॉक एवं ट्रेगर

१०. 'मनुष्य ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा अपना विचार प्रकट करता है। मानव-मस्तिष्क वस्तुतः विचार प्रकट करने के लिए ऐसे शब्दों का निरन्तर उपयोग करता है। इस प्रकार के कार्य-कलाप को ही भाषा की संज्ञा दी जाती है।'

—जेस्परसन

इस प्रकार भाषा को अनेक प्रकार से परिभाषित करने का प्रयास किया गया है, किन्तु किसी भी परिभाषा से वस्तुतः भाषा का वास्तविक रूप प्रकट नहीं हो पाता। नीचे विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत भाषा के रूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया जाता है—

१. भाषा ध्वनियों का समूह है—

अधिकांश विद्वानों ने ध्वनियों के समूह को भाषा का नाम दिया है, किन्तु इसमें अतिव्याप्ति दोष है; क्योंकि अन्य प्राणी भी तो ध्वनि के द्वारा ही भावाभिव्यक्ति करते हैं। इसके विपरीत गूँगे-बहरे भी तो हैं। वस्तुतः मनुष्य के ध्वनि-अवयवों से निःसृत ध्वनि ही भाषा के अन्तर्गत आती है।

२. ध्वनि-प्रतीक तथा वस्तु में कोई तार्किक सम्बन्ध नहीं होता—

वस्तुतः ध्वनि-प्रतीक तथा प्रतीक वस्तु में कोई तात्त्विक सम्बन्ध नहीं होता। यथा—'ग् + आ + य् + अ' ध्वनियों से 'गाय' प्रतीक की संरचना हुई, किन्तु इस ध्वनि-प्रतीक से जिस प्राणी का बोध होता है, उसका और इस ध्वनि-समष्टि का कोई सम्बन्ध नहीं है।

३. भाषा स्वच्छन्द पद्धति है—

भाषा की स्वच्छन्दता का अर्थ यही है कि भाषा अर्जित वस्तु है। मनुष्य

अपने पूर्वजों एवं समाज से ही भाषा सीखता है। भाषा समाज-सापेक्ष होती है। एकान्त निर्जन निवासी भाषा नहीं सीख सकता, किन्तु पशु-पक्षियों एवं नवजात शिशु की भाषा समाज-सापेक्ष नहीं होती, वह बिल्कुल स्वच्छन्द होती है। इस प्रकार की भाषा का अध्ययन भाषाविज्ञान के क्षेत्र से बाहर है।

४. भाषा क्रमबद्ध वस्तु है—

प्रत्येक भाषा के गठन का एक विशेष क्रम होता है। हम किसी भाषा के गठन के विपरीत नहीं जा सकते। यथा हिन्दी में—राम···खाता है। इसके रिक्त स्थान में केवल जातिवाचक संज्ञा को ही रखा जा सकता है। अन्य प्रकार की संज्ञाओं को हम नहीं रख सकते, क्योंकि एक वचन की क्रिया के साथ दो व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का प्रयोग हिन्दी भाषा के गठन के प्रतिकूल है।

५. भाषा सार्थक ध्वनि-प्रतीकों का समूह है—

भाषा ध्वनि-प्रतीकों का समूह हैं और ये सभी ध्वनि-प्रतीक सार्थक होते हैं। विशेष अर्थ द्योतित करने के लिए मनुष्य विशेष ध्वनि समष्टि का व्यवहार करता है। भाषा की विशेष ध्वनि समष्टि के साथ विशेष अर्थ का अटूट सम्बन्ध होता है।

६. भाषा अपने में पूर्ण होती है—

भाषा की पूर्णता का अर्थ यह है कि वह अपने समाज के भावों को व्यक्त करने में समर्थ होती है।

सामान्यतया व्यक्ति समाज की सामान्य भाषा को अपनाता है, फिर भी उसकी भाषा की एक निजी विशेषता होती है। उसके उच्चारण में, लहजे में एवं व्याकरण में एक निजी दखल होती है। इस प्रकार समाज से अलग विशेषता से युक्त जिस भाषा का प्रयोग व्यक्तिगत रूप में किया जाता है, उसे व्यक्ति बोली कहते हैं।

जब व्यक्ति-बोली अलग-अलग होती है, तो अन्य व्यक्ति उसे कैसे समझता है? इसका उत्तर है कि अनेक व्यक्ति-बोलियों में जितना तत्त्व समान है, वह बोली है और जो केवल एक में मिलता है, वह व्यक्ति-बोली है।

बोली—बोली भाषा की छोटी ईकाई है। इसका सम्बन्ध ग्राम या मण्डल से रहता है। इसमें व्यक्तिगत बोली की प्रधानता रहती है। इसमें घरेलू शब्द और देशज शब्दों का भी पर्याप्त प्रभाव रहता है। यह मुख्य रूप से बोलचाल की भाषा होती है। इसमें साहित्यिक रचना आदि का अभाव रहता है। भाषा

की अपेक्षा बोली का क्षेत्र, उसके बोलने वालों की संख्या और महत्त्व कम होता है। एक छोटे भूखण्ड में निकटस्थ मानव-समुदाय भाषा के जिस रूप से विचारों का आदान-प्रदान करता है, उसे बोली की संज्ञा दी जाती है। अर्थात् बोली उन लोगों की बोलचाल की भाषा का वह मिश्रित रूप है, जिनकी भाषा में पारस्परिक भेद को अनुभव नहीं किया जाता है।

बोली और भाषा में अन्तर—

१. परस्पर सम्बन्धित बोलियाँ किसी एक ही भाषा का अङ्ग होती हैं। अर्थात् भाषा अङ्गी है और बोलियाँ उसकी अङ्ग हैं।

२. भाषा का क्षेत्र अपेक्षाकृत विस्तृत होता है, किन्तु बोली का क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित। उदाहरण के लिए 'हिन्दी' एक भाषा है तथा हिन्दीभाषी क्षेत्र के विभिन्न उपक्षेत्रों में बोली जाने वाली ब्रज, अवधी, बाँगरू, खड़ीबोली आदि हिन्दी की ही बोलियाँ हैं।

३. किसी भाषा की एक बोली, दूसरी बोली से भिन्नता रखते हुए भी इतनी अधिक भिन्न नहीं होती है कि दूसरी बोली वाले उसे समझ ही न सकें।

४. प्रायः साहित्य-रचना में भाषा का प्रयोग होता है, जब कि बोलचाल में बोली का। एक ही भाषा के विभिन्न बोली वाले व्यक्ति साहित्य की रचना एक ही भाषा में करते हैं।

५. बोलियों में से ही कोई एक बोली महत्त्व विशेष से 'भाषा' बन जाती है तथा कालान्तर में 'भाषा' के ही विभिन्न क्षेत्रीय रूप बोलियाँ कहलाने लगते हैं।

इस प्रकार 'बोली' किसी भाषा के एक ऐसे सीमित क्षेत्रीय रूप को कहते हैं; जो ध्वनि, रूप, वाक्य-गठन, अर्थ, शब्द-समूह तथा मुहावरे आदि की दृष्टि से उस भाषा के परिनिष्ठित तथा अन्य क्षेत्रीय रूपों से भिन्न होती है, किन्तु इतना भिन्न नहीं कि अन्य रूपों को बोलने वाले उसे समझ ही न सकें। साथ ही जिसके अपने क्षेत्र में बोलने वालों के उच्चारण, रूपरचना, वाक्यगठन, अर्थ, शब्द समूह तथा मुहावरों आदि में कोई स्पष्ट भेदक और महत्त्वपूर्ण भिन्नता नही होती है।

किसी 'बोली' का 'भाषा' बनने का कारण—

कोई बोली महत्त्व प्राप्त कर भाषा बन जाती है। बोली के महत्त्व प्राप्त करने के मुख्य कारण निम्न हैं—

१. किसी भाषा की कई बोलियों में से जब एक ही बोली जीवित रह जाती है तथा शेष किन्हीं कारणों से अस्तित्व में नहीं रहतीं, तो उस बोली को ही भाषा का पद प्राप्त हो जाता है।

२. जब अनेक बोलियों में से कोई एक बोली, इतने भिन्न स्वरूप वाली हो जाती है कि शेष बोलियों को बोलने वाले उसे नहीं समझ पाते हैं।

३. किसी बोली में श्रेष्ठ साहित्य की रचना के कारण भी उसे भाषा का पद दे दिया जाता है।

४. धार्मिक श्रेष्ठता के कारण भी कोई बोली भाषा बन जाती है और उसमें धर्म-विशेष का साहित्य रचा जाने लगता है। जैसे—अवधी भाषा में राम-साहित्य तथा ब्रजभाषा में कृष्ण-साहित्य।

५. राजनीति के कारण भी बोली भाषा का पद प्राप्त कर लेती है। यदि किसी बोली का क्षेत्र राजनीतिक केन्द्र बन जाता है, तो सब लोगों का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट होता है। दिल्ली-मेरठ की खड़ी बोली ने आज इसी आधार पर 'भाषा' का पद प्राप्त किया है। हिन्दी की सभी बोलियों के भाषी आजकल साहित्यिक रचनाएँ उसी में करते हैं।

(५) **प्रश्न**—भाषा की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—भाषा की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१. भाषा अर्जित सम्पत्ति है, परम्परागत नहीं—भाषा सामाजिक तथा परम्परागत वस्तु होते हुए भी किसी व्यक्ति को पैतृक-सम्पत्ति की भाँति जन्म से ही स्वतः ही प्राप्त नहीं होती। मनुष्य को भाषा अपने प्रयास से सीखनी पड़ती है। समाज भाषा के अर्जन में व्यक्ति की सहायता अवश्य करता है और इस रूप में व्यक्ति अपने माता-पिता से भाषा सीखता ही है, किन्तु जिस प्रकार बिना प्रयत्न के उसे भौतिक सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है, उस रूप में भाषा नहीं प्राप्त हो सकती। हाँ, पारिवारिक सहयोग एवं समाज के सहयोग से अनायास या किसी श्रम का अनुभव किये बिना ही व्यक्ति भाषा को सीख लेता है। भाषा का सामाजिक व्यवहार इसमें व्यक्ति का मार्गदर्शन करता है, किन्तु उसका अनुकरण व्यक्ति को ही स्वयं करना पड़ता है।

२. भाषा आद्यन्त सामाजिक वस्तु है—जहाँ मनुष्य है, उसका समाज है, वहाँ सर्वत्र भाषा विद्यमान है। महान् मनीषी 'भर्तृहरि' ने इसी रूप में शब्द-ब्रह्म का प्रतिपादन किया है—

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते" ।।

—वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड १२४ ।

अर्थात् विश्व में ज्ञात ऐसा कोई विषय नहीं है, जो शब्द (भाषा) का आश्रय न लेता हो । सम्पूर्ण ज्ञान शब्द से ही अनुस्यूत हुआ-सा ही प्रतीत होता है । भाषा पूर्णतः आदि से अन्त तक समाज से सम्बन्धित है । उसका विकास समाज में ही होता है । इसीलिए यह एक सामाजिक संस्था है ।

३. **भाषा परम्परा है, व्यक्ति उसका अर्जन कर सकता है, उसे उत्पन्न नहीं कर सकता**—भाषा परम्परा से चली आ रही है । व्यक्ति उसका अर्जन परम्परा और समाज से करता है । एक व्यक्ति उसमें परिवर्तन आदि तो कर सकता है, किन्तु उसे उत्पन्न नहीं कर सकता ।

४. **भाषा का अर्जन अनुकरण द्वारा होता है**—भाषा को हम अनुकरण द्वारा सीखते हैं । शिशु के समक्ष माँ 'दूध' कहती है । वह सुनता है और धीरे-धीरे उसे स्वयं कहने का प्रयास करता है । अरस्तू के शब्दों में अनुकरण मनुष्य का सबसे बड़ा गुण है । वह भाषा सीखने में भी उसी गुण का उपयोग करता है ।

५. **भाषा चिरपरिवर्तनशील है**—भाषाविज्ञान में 'भाषा' का अर्थ मौखिक भाषा से ही है, क्योंकि लिखित रूप तो उसी मौखिक रूप पर ही आधारित है । चूँकि भाषा अनुकरण द्वारा सीखी जाती है । अनुकरण में कुछ न कुछ भिन्नता का आ जाना उतना ही स्वाभाविक है; जितना कि अनुकरण करना । इसके अतिरिक्त प्रयोग से घिसने और बाहरी प्रभावों से भी परिवर्तन होता है । इस प्रकार भाषा प्रतिपल परिवर्तित होती रहती है ।

६. **भाषा का कोई अन्तिम स्वरूप नहीं होता**—जो वस्तु बन-बनाकर पूर्ण हो जाती है, उसका अन्तिम स्वरूप होता है, परन्तु भाषा के विषय में यह बात नही है । वह कभी पूर्ण नहीं हो सकती । भाषा से हमारा अभिप्राय जीवित भाषा से है । वास्तव में यही भाषा भाषाविज्ञान की विषयवस्तु है ।

७. **प्रत्येक भाषा की एक भौगोलिक सीमा होती है**—हर भाषा का एक भौगोलिक क्षेत्र होता है । उस सीमा के बाहर उसका स्वरूप परिवर्तित हो जाता है ।

८. प्रत्येक भाषा की अपनी संरचना अलग होती है—किन्हीं दो भाषाओं का ढाँचा पूर्णतया एक नहीं होता है। उसमें ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य या अर्थ के स्तरों पर संरचना या ढाँचे में अन्तर होता है।

९. भाषा की धारा स्वभावतः कठिनता से सरलता की ओर जाती है—मनुष्य का स्वभाव है कि कम से कम प्रयास में अधिक से अधिक लाभ उठाना। इसी 'कम प्रयास' के स्वभाव से वह 'सत्येन्द्र' से 'सतेन्द्र' और फिर 'सतेन' कहने लगता है और एक अवस्था ऐसी आ जाती है, जब यह केवल 'सति' कहकर ही काम चलाना चाहता है। यह उदाहरण ध्वनि से सम्बन्धित है, किन्तु व्याकरण के रूपों के बारे में भी यही बात है। पुरानी भाषाओं (ग्रीक, संस्कृत आदि) में रूपों और अपवादों का बाहुल्य है, किन्तु आधुनिक भाषाओं में रूप कम हो गये हैं। अतः अपवाद कम हो गये हैं। भाषा पानी की धारा है, जो ऊँचाई (कठिनाई) से नीचे (सरलता) की ओर जाती है।

१०. भाषा स्थूलता से सूक्ष्मता और अप्रौढ़ता से प्रौढ़ता की ओर जाती है—दिन पर दिन भाषा में विकास होता जा रहा है और वह अप्रौढ़ से प्रौढ़ तथा प्रौढ़ से प्रौढ़तर होती जा रही है। आज की हिन्दी की तुलना में कल की हिन्दी अधिक सूक्ष्म और प्रौढ़ होगी। यह बात प्रयोग पर भी निर्भर करती है। संस्कृत की तुलना में आज की हिन्दी को सूक्ष्म एवं प्रौढ़ नहीं कह सकते, क्योंकि उन अनेक क्षेत्रों में प्रयुक्त होकर अभी तक हिन्दी विकसित नहीं हुई, जिनमें संस्कृत हजारों वर्ष पूर्व हो चुकी है।

११. भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जाती है—भाषा संयोग से वियोग की ओर जाती है। संयोग का अर्थ मिली होने की स्थिति, जैसे—'रामः गच्छति' तथा वियोग का अर्थ है अलग हुई स्थिति, जैसे—'राम जाता है'। संस्कृत में 'गच्छति' से काम चल जाता था, परन्तु हिन्दी में 'जाता है' का प्रयोग करना पड़ता है।

१२. हर भाषा का स्पष्ट या अस्पष्ट एक मानक रूप होता है।

(६) **प्रश्न**—भाषा के विविध रूपों का परिचय दीजिए और उन पर विस्तार से प्रकाश डालिए।

उत्तर—भाषा वह इकाई है, जिसका सम्बन्ध मानव जाति के सबसे छोटे अवयव व्यक्ति से लेकर विश्वमानव की समष्टि तक है। संसार से दूर पड़ा

व्यक्ति भी किसी भाषा का प्रयोग करता है और एक विश्वविख्यात व्यक्ति भी किसी विशेष भाषा का प्रयोग करता है। कालभेद, स्थानभेद, देशभेद, स्तरभेद आदि के आधार पर भाषाओं की अनेकरूपता दृष्टिगोचर होती है। भाषा की अनेकरूपता के चार मुख्य आधार हैं—१. इतिहास, २. भूगोल, ३. प्रयोग और ४. निर्माता।

इतिहास के आधार पर भेद—सर्वप्रथम वैदिक संस्कृत, तत्पश्चात् क्रमशः साहित्यिक संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाएँ, इस प्रकार संस्कृत से वर्तमान भारतीय आर्यभाषाओं तक के इस भेद का आधार ऐतिहासिक है। कालक्रम से भाषा में भेद आता है और उस भेद के आधार पर भाषा में परिवर्तन और रूपान्तरण होता है। विश्व की प्रत्येक भाषा में इस प्रकार का परिवर्तन होता है।

भूगोल के आधार पर भेद—भौगोलिक आधार पर भाषा में जो अनेक रूप हो जाते हैं, उसके आधार पर उनके पृथक्-पृथक् नाम रखे जाते हैं। अपभ्रंश से विभिन्न आधुनिक भारतीय भाषाएँ निकली हैं और भौगोलिक या प्रान्तीय आधार पर उनके अनेक रूप हो गये हैं। जैसे—हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी, भोजपुरी, बिहारी, उड़िया, बंगाली आदि। इसका क्षेत्र बोली से अधिक विस्तृत होता है। यह प्रायः प्रदेश या प्रान्तीय स्तर की भाषा होती है।

प्रयोग के आधार पर भेद—प्रयोक्ता किस वर्ग, जाति, धर्म आदि का है इसके आधार पर भाषा के अनेक रूप हो जाते हैं। जैसे—साहित्यिक भाषा, राजभाषा, राष्ट्रभाषा, शुद्धभाषा, अशुद्धभाषा, ग्रामीण बोली आदि।

निर्माता के आधार पर भेद—भाषा के निर्माताओं के आधार पर भी भाषा के अनेक रूप होते हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृति, ग्राह्यता, सुबोधता, मिश्रण आदि के आधार पर भी भाषा के अनेक भेद-उपभेद हो सकते हैं।

भाषा की अनेकरूपता को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—मूलभाषा, परिनिष्ठित भाषा, विभाषा, बोली, व्यक्तिबोली, अपभाषा, विशिष्टभाषा, कूटभाषा, कृत्रिम-भाषा एवं मिश्रित भाषा।

१. **मूलभाषा**—कतिपय ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर विश्व की प्रत्येक भाषा का आधार कोई न कोई मूलभाषा मानी गई है। जैसे—इण्डो-यूरोपियन

या भारोपीय मूलभाषा की कल्पना। विद्वानों का अनुमान है कि भारत और यूरोप के व्यक्ति मूल रूप में किसी एक स्थान पर रहते थे। धीरे-धीरे वे इधर-उधर बिखरे। उनकी मूल भाषा इस विस्तार के साथ ही अनेक रूपों में आई। एक ओर इसका भारतीय संस्कृत वाला रूप प्रकट हुआ, दूसरी ओर ग्रीक और लैटिन से सम्बद्ध पाश्चात्य रूप निखरा, इसमें अंग्रेजी आती है। आर्य-धारा का ही एक अंग अवेस्ता, पह्लवी, फारसी आदि के रूप में विकसित हुआ। तुलनात्मक अध्ययन पर यह मूलभाषा स्वीकृत की गई है।

२. **परिनिष्ठित या परिष्कृत भाषा**—इसे स्तरीय भाषा, स्टैण्डर्ड भाषा, आदर्श भाषा या टकसाली भाषा भी कहते हैं। यह भाषा का आदर्श रूप होता है। साहित्यिक रचनाएँ इसी में होती है। शासन, शिक्षा एवं शिक्षितवर्ग में इसका ही प्रयोग होता है। व्याकरण की दृष्टि से भी यह भाषा परिष्कृत होती है। भाषा का व्याकरण इसी को आधार मानकर बनाया जाता है। अनेक समान भाषाओं में से विशिष्ट समाज या जनसाधारण में अधिक प्रचलन के आधार पर किसी एक भाषा को आदर्श मान लिया जाता है। राजकीय स्तर पर स्वीकृत होने से आदर्श भाषा के रूप में व्यवहृत होती है। संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, रूसी, जर्मन, फ्रैंच, चीनी आदि भाषाएँ इसी श्रेणी में आती है। आदर्श भाषा के प्रान्तीय रूप भी विभिन्न हो जाते हैं। इसके मौखिक एवं लिखित दो रूप होते हैं। लिखित की अपेक्षा मौखिक रूप सरल होता है।

३. **विभाषा**—परिनिष्ठित या आदर्श भाषा के अन्तर्गत अनेक विभाषाएँ होती हैं। ये प्रायः स्थानीय भेद के कारण पृथक्-पृथक् रूपों में होती हैं। भौगोलिक आधार पर एक भाषा की अनेक विभाषाएँ होती हैं। जैसे—राजस्थानी आदि प्रान्तीय या उपप्रान्तीय आधार पर स्वीकृत भाषाओं को विभाषा की श्रेणी में रखा जाता है। जैसे—पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगला, उड़िया, असमी आदि। इसे डाएलेक्ट (Dailect) के नाम से भी जाना जाता है।

४. **बोली**—कतिपय विद्वान् विभाषा और बोली को समानार्थक मानते हैं और इसे डाएलेक्ट का अनुवाद मानते हैं। विभाषा और बोली में आपेक्षिक अन्तर है। जो भाषाएँ प्रान्तीय स्तर पर शासन द्वारा स्वीकृत हो जाती है और जिनमें प्रान्तीय शासन का कार्य प्रचलित होता है, उनका स्तर उच्च हो जाता है और वे विभाषा की श्रेणी में आ जाती है। इनके अतिरिक्त जो भाषाएँ

प्रान्तीय स्तर पर स्वीकृत न होकर मण्डलीय स्तर पर स्वीकृत रहती हैं तथा जिनमें साहित्यिक रचनाएँ भी विद्यमान रहती हैं, वे भाषाएँ बोली की श्रेणी में आती हैं। जैसे हिन्दी की बोलियाँ—ब्रज, अवधी, कुमाउँनी, बुन्देली, भोजपुरी आदि। इसके भी छोटे भेद होते हैं, जिन्हें उपबोली कह सकते हैं।

५. **व्यक्ति-बोली**—यह भाषा की सबसे छोटी इकाई है। एक व्यक्ति की भाषा को व्यक्तिबोली कहेंगे। प्रत्येक व्यक्ति की भाषा में दूसरे व्यक्ति की भाषा से अन्तर होता है। ध्वनिभेद, स्वरभेद, सुरभेद आदि के आधार पर एक-एक व्यक्ति की बोली पृथक् पहचानी जाती है। व्यक्तिगत बोली ही सामूहिक रूप प्राप्त होने पर उपबोली बनती है। उससे ही बोली और विभाषा का निर्माण होता है।

६. **अपभाषा**—अशिष्ट, असभ्य और अपरिष्कृत भाषा को अपभाषा नाम दिया जाता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इस ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा है—

'ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै'।—महाभाष्य, आह्निक-१

अर्थात् ब्राह्मण या विद्वान् को म्लेच्छ भाषा और अशुद्ध भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए। अंग्रेजी में इसके लिए स्लैंग शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसमें व्याकरण के नियमों की उपेक्षा रहती है। अतएव शब्दों की शुद्धि और अशुद्धि का ध्यान न रखते हुए प्रयोग किया जाता है। जैसे—एकर (इसका), ओकर (उसका), गउवाँ (गाँव) आदि।

इसके अतिरिक्त अपरिष्कृत वाक्य-रचना एवं अपरिष्कृत मुहावरों का प्रयोग भी किया जाता है। अपभाषा शैक्षिक और सामाजिक दृष्टि से निम्न वर्ग में प्रचलित रहती है।

७. **विशिष्ट भाषा**—विभिन्न व्यवसायों के आधार पर भाषा के अनेक रूप समाज में दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे—किसान, मजदूर, लोहार, दर्जी, शिक्षक, वकील, डाक्टर, पुरोहित, मुल्ला, पादरी आदि की अपनी व्यवस्था के अनुसार अलग-अलग शब्दावली होती है। इसी प्रकार विभिन्न शास्त्रों या विज्ञानों की भी अपनी विशिष्ट शब्दावली होती हैं, जो उस विषय से सम्बद्ध व्यक्तियों में ही चलती है।

८. **कूटभाषा**—कूटभाषा का उपयोग मनोरंजन और अपह्नुति के लिए किया जाता है। इसमें कुछ विशिष्ट शब्दों का विशिष्ट अर्थों में प्रयोग

होता है। इस प्रकार की भाषा राजनीतिज्ञों, विद्रोहियों, क्रान्तिकारियों, चोरों और डाकुओं आदि में प्रचलित होती है। क्रान्तिकारी पत्रों में गोपन के लिए बम को रसगुल्ला लिखते थे। काव्यशास्त्र में विपरीत लक्षणा, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति और अपह्नुति आदि में कूट प्रयोग आधार रूप में है। कहीं पर वर्ण-परिवर्तन, वाक्य-परिवर्तन, प्रत्येक शब्द के साथ कुछ अक्षर जोड़ते जाना, अक्षरों के लिए अंकों का प्रयोग आदि।

९. **कृत्रिम भाषा**—वह परम्परागत या स्वभाव सिद्ध नहीं है। यह भाषा की सुबोधता और सुगमता को लक्ष्य में रखकर बनाई जाती है। इस दृष्टि से डॉ० जमेनहाक की बनायी 'एस्परेन्तो भाषा' विश्व में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। विश्वभर में इसका प्रचार है। भाषा-भेद से उत्पन्न होने वाली असुविधाओं को दूर करके अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के योग्य एक सामान्य भाषा को प्रस्तुत करना ही इसकी विशेषता है। इस प्रकार की भाषाओं में आक्सिडेण्टल, इण्टरलिंगुआ, नोवियल आदि मुख्य हैं। इसकी कुछ न्यूनताएँ भी हैं—यह कामचलाऊ भाषा है, गम्भीर विषयों का विवेचन इसमें सम्भव नहीं है, उच्च साहित्य का निर्माण इसमें सम्भव नहीं है और यह भाषा मातृभाषा का गौरव भी नहीं पा सकती। भौगोलिक आधार पर ध्वनि-भेद होने से उसमें एकरूपता भी सम्भव नहीं है।

१०. **राष्ट्रभाषा**—परिनिष्ठित भाषा तो एक क्षेत्र में ही रहती है, जिसकी वह बोली होती है। उदाहरण के लिए—हिन्दी भाषा उत्तरप्रदेश, बिहार और राजस्थान की परिनिष्ठित भाषा है, किन्तु कोई परिनिष्ठित भाषा अपने सीमित क्षेत्र से निकलकर सभी प्रदेशों में बोलनेवालों को प्रभावित करती है, अर्थात् अन्य भाषा-परिवारों में भी उसका सार्वजनिक रूप से प्रयोग होने लगता है, तो वह राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त कर लेती है। इसके अतिरिक्त साहित्यिक भाषा, मृतभाषा और जातिभाषा आदि अनेक रूप हैं।

(७) **प्रश्न**—भाषा-परिवर्तन के कारणों का संक्षेप में विवेचन कीजिए।

उत्तर—परिवर्तन सृष्टि का नियम है। संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। इस परिवर्तन को हम विकास कहते हैं। परिवर्तन ही जीवन है, चेतना है, विकास है और उल्लास है। भाषा में भी परिवर्तन होना ही उसका

विकास या विकार है। भाषा में परिवर्तन उसके पाँचों ही रूपों—ध्वनि, पद, शब्द, अर्थ और वाक्य में होता है (ध्वनि—लोप, आगम, विपर्यय, परिवर्तन आदि; पद—रामस्य, राम का; वाक्य—शब्दक्रम, अन्वय आदि; शब्द—पुराने का लोप और नये का आना; अर्थ—अर्थ-विस्तार, संकोच या आदेश आदि)।

भाषा के विकास या परिवर्तन पर बहुत पहले से किसी न किसी रूप में विचार किया गया है। शब्दशास्त्र के प्राचीन भारतीय आचार्यों में कात्यायन, पतंजलि, कैयट, काशिकाकार—जयादित्य और वामन के नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। यूरोप में इस विषय पर विचार करनेवाले जे० एच० ब्रेड्स-डॉर्फ हैं। इन्होंने १८२१ में गॉथिक ध्वनि-परिवर्तन पर विचार करते समय तथा अन्यत्र भी भाषा-परिवर्तन के ७-८ कारण गिनाये थे। तब से आज तक पाल, येस्पर्सन आदि अनेक लोगों ने इस विषय को उठाया। पिछले दशक में स्टुर्टवेंट ने इस विषय का पहली बार बहुत विस्तार से विवेचन किया, यद्यपि उसे भी पूर्ण नहीं माना जा सकता है।

भाषा का विकास जिन कारणों से होता है, उन्हें प्रमुखतः दो वर्गों में रखा जा सकता है—एक आभ्यन्तर और दूसरा बाह्य। आभ्यन्तर वर्ग में भाषा की अपनी स्वाभाविक गति तथा वे कारण सम्मिलित हैं, जो प्रयोक्ता की शारीरिक या मानसिक योग्यता आदि सम्बन्धी स्थिति से सम्बन्ध रखते हैं। बाह्य वर्ग में वे कारण आते हैं, जो बाहर से भाषा को प्रभावित करते हैं।

(क) **आभ्यन्तर वर्ग**—आभ्यन्तर वर्ग के अन्तर्गत वे सभी कारण आते हैं, जो बाहर से प्रभाव नहीं डालते। संक्षेप में मुख्य कारणों को ही यहाँ लिया जा रहा है—

१. **प्रयोग से घिस जाना**—अधिक प्रयोग के कारण धीरे-धीरे अन्य सभी चीजों की भाँति भाषा में भी स्वाभाविक रूप से परिवर्तन होता है। संस्कृत की कारकीय विभक्तियाँ इसी प्रकार धीरे-धीरे घिसते-घिसते समाप्त हो गईं।

२. **बल**—जिस ध्वनि या अर्थ पर अधिक बल दिया जाता है, वह अन्य ध्वनियों या अर्थों को या तो कमजोर बना देती हैं या समाप्त कर देती है। इस प्रकार इससे भी भाषा में परिवर्तन हो जाता है।

३. **प्रयत्न-लाघव**—भाषा-परिवर्तन में यह सबसे महत्वपूर्ण कारण है और भाषा में विकास या परिवर्तन के ९०% से भी अधिक का दायित्व इसी पर है। इसे 'मुख-सुख' भी कहते हैं।

मनुष्य का स्वभाव है कि कम से कम प्रयास से अधिक से अधिक काम करना। बोलने में भी इसी प्रकार कम से कम प्रयत्न से लोग शब्दों को उच्चरित करना चाहते हैं और इस कम से कम प्रयास या प्रयत्न-लाघव के प्रयास में ही शब्दों को सरल बनाते या सरलता के लिए कभी तो बड़ा और कभी छोटा बना डालते हैं या कभी कठिन संयुक्त व्यंजनों आदि को सरल कर लेते हैं। कृष्ण का कन्हैया-कान्हा या किशन, भक्त का भगत, स्टेशन का टेसन, गोपेन्द्र का गोविन आदि सरल बोलने के प्रयास के ही फल हैं। अंग्रेजी में क्नो Know का उच्चारण नो, Knife क्नाइफ का नाइफ तथा Talk टाल्क का टाक भी इसी का परिणाम है।

प्रयत्न-लाघव या मुख-सुख कई प्रकार से लाया जाता है, जिसमें स्वर-लोप (जैसे—अनाज से नाज या एकादश से ग्यारह), व्यंजन-लोप (जैसे स्थाली से थाली), अक्षर-लोप (शहतूत से तूत), स्वरागम (स्काउट से इस्काउट, कर्म से करम), व्यंजनागम (अस्थि से हड्डी), विपर्यय (वाराणसी से बनारस या पहुँचना से पहुँचना), समीकरण (शर्करा से शक्कर), विषमीकरण (काक से काग) तथा स्वतः अनुनासिकता (उष्ट्र से ऊँट, श्वास से साँस) आदि प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त भी घोषीकरण, अघोषीकरण, अभिश्रुति, महाप्राणीकरण, अल्पप्राणीकरण, अग्रागम, स्वरभक्ति, उभय सम्मिश्रण, स्थान-विपर्यय, मात्राभेद, ऊष्मीकरण तथा संधि आदि में होने वाले कारण आते हैं।

४. **मानसिक स्तर**—बोलने वालों के मानसिक स्तर में परिवर्तन होने से विचारों में परिवर्तन होता है, विचारों में परिवर्तन से अभिव्यंजना के ढंग में परिवर्तन होता है और इस प्रकार भाव पर भी प्रभाव पड़ता है।

५. **अनुकरण की अपूर्णता**—भाषा अर्जित सम्पत्ति है और उसका अर्जन मनुष्य अनुकरण के सहारे समाज से करता है। अनुकरण प्रायः अपूर्ण या अनुचित होता है। ध्वनि का अनुकरण सुनकर तथा उच्चारण-अवयवों की गति देखकर किया जाता है। वाक्य, अर्थ आदि का अनुकरण मानसिक रूप से समझ कर किया जाता है। अनुकरण में अनुकर्ता कुछ भाषिक तथ्यों को छोड़ देता है तथा कुछ अनजाने ही जोड़ देता है। आर० एन० पिडल

(१९२६) तथा ए० डुरेफर (१९२७) ने कुछ स्थानों पर इस बात का अनेक वर्षों तक बड़ी सूक्ष्मता से अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह परिवर्तन या विकास का सबसे बड़ा कारण है।

अनुकरण की अपूर्णता के लिए भी कई कारण हैं। जैसे—शारीरिक विभिन्नता, ध्यान की कमी तथा आशिआ है।

६. **जानबूझकर परिवर्तन**—भाषा में कभी-कभी जानबूझकर भी उस भाषा के प्रबुद्ध बोलने वाले या लेखक आदि परिवर्तन कर देते हैं। प्रसाद ने अलेक्जेंडर का अलक्षेन्द्र कर दिया है। इसी प्रकार देशज तथा विदेशी शब्दों का संस्कृत के साहित्यकारों ने संस्कृतीकरण किया है। जैसे अरबी 'अफ़्रियून' का अहिफेन या तुर्की का तुरुष्क। कभी-कभी उपयुक्त शब्द न मिलने से भी नये शब्द गढ़ लिये जाते हैं। जैसे—ट्रेजेडी का त्रासदी आदि।

७. **जातीय मनोवृति**—हर जाति की अपनी पृथक् मनोवृत्ति होती है और भाषा उसके अनुसार परिवर्तित होती है। ग्रिम नियम इसका उदाहरण है।

(ख) **बाह्य वर्ग**—

१. **भौतिक वातावरण**—भाषा पर इसका सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। एक भाषा के अन्तर्गत अनेक बोलियाँ या एक परिवार में अनेक भाषाएँ मूलतः इसी कारण से बन जाती हैं। इसके भी कई कारण हैं। यथा—

(अ) गर्मी और सर्दी के अधिक या कम होने से जीविका, स्वभाव, रहन-सहन, आचरण आदि पर प्रभाव पड़ता है। भाषा इन सभी पर आधारित है।

(ब) उपजाऊ भूमि होने पर उन्नति करने का समय मिलेगा। अतः लोग अधिक अध्ययनशील और संस्कारयुक्त भाषा का प्रयोग करेंगे। गूढ़ विषयों पर सोचेंगे। अतः इसकी अभिव्यंजना के लिए उसकी भाषा गम्भीर होती जाएगी।

२. **सांस्कृतिक प्रभाव**—संस्कृति समाज का प्राण है। अतः उसका भी प्रभाव भाषा पर पड़ता है और उसके कारण भाषा में विकास होता है। सांस्कृतिक संस्थाएँ प्राचीन शब्दों को एक बार फिर ला देती हैं, साथ ही विचार में भी परिवर्तन कर देती हैं। १९वीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के आदि की भाषा पर आर्यसमाज आदि के कारण संस्कृत शब्द अपने तत्सम रूप में अत्यधिक प्रयुक्त हो रहे हैं। महान् व्यक्तियों के कारण भी भाषा

प्रभावित होती है। जैसे—तुलसीदास की भाषा के बाद की शैली भी प्रभावित हुई, गांधी जी के कारण हिन्दी की हिन्दुस्तानी शैली को काफी बल मिला। व्यापार, राजनीति तथा धर्म प्रचार आदि के कारण कभी-कभी दो संस्कृतियों का सम्मिश्रण हो जाता है। इसका भी भाषा के विकास या परिवर्तन में प्रभाव पड़ता है। इन संस्कृतियों के सम्मेलन से भाषा पर दो प्रकार के प्रभाव सम्भव होते हैं—

(अ) **प्रत्यक्ष**—शब्दों के लेन-देन से आज हमारी भारतीय भाषाओं में कई संस्कृतियों के शब्द जुड़ गये हैं। हिन्दी में ही आस्ट्रिकों के गंगा आदि; द्रविड़ों के तीर, आलि, मीन आदि; यवनों से होड़ा, दाम, सुरंग आदि; तुर्कों एवं मुसलमानों के पाजामा, बाजार, दुकान, कागज, कलम, किताब, तकिया आदि तथा यूरोपियनों के खेल, न्याय, फैशन, हाकी, टेनिस, कॉलर, टाई, पेंसिल, कोट आदि हजारों शब्द प्रचलित हैं।

मूल भारोपीय भाषा में टवर्गीय ध्वनि नहीं थी, परन्तु भारत में सम्भवतः द्रविणों के प्रभाव से आर्यभाषा में ये ध्वनियाँ आ गईं और मुसलमानों तथा अंग्रेजों के सम्पर्क से भी कई नवीन ध्वनियाँ आ गई हैं। जैसे—क़, ख़, ग़, ज़, फ़ तथा ऑ। इसी तरह वाक्य-गठन, मुहावरे, लोकोक्ति तथा अभिव्यक्ति की शैली भी विदेशी भाषाओं से प्रभावित होती है। उदाहरणार्थ—फारसी, 'आब-आब शुदन' का अनुवाद हिन्दी में 'पानी-पानी होना' आदि हैं।

(ब) **अप्रत्यक्ष**—अप्रत्यक्ष रूप से भी भाषा में परिवर्तन होता है। साहित्य, कला आदि पर प्रभाव पड़कर भाषा परिवर्तित होती है।

३. **समाज की व्यवस्था**—सामाजिक व्यवस्था के कारण समाज में शान्ति या अशान्ति रहती है और उसका भी जीवन के अंग पर प्रभाव पड़ता है। वह प्रभाव भाषा को भी प्रभावित करता है। समय की बचत के लिए शब्दों के संक्षिप्त रूप भी बनाये गये हैं। सी० आई० डी०, नेफा, युनेस्को आदि।

४. **बोलने वालों की उन्नति**—प्रयोक्ताओं की उन्नति के कारण भी भाषा में परिवर्तन होता है। नयी उन्नति के अनुरूप नयी अभिव्यक्तियों के लिए भाषा में कुछ नयी चीजें—मशीन, वस्त्र, खाना, मनोरंजन आदि के लिए नये शब्द आ जाते हैं और पुराने कई शब्द लुप्त भी हो जाते हैं। नये वस्त्रों के पहनावे में आने पर पुरानी परम्पराओं के कई वस्त्रों का प्रचलन न होने के कारण नयी पीढ़ी उनसे अनभिज्ञ हो रही है।

५. सादृश्य—भाषा में शब्द या वाक्य दूसरे शब्द या वाक्य की सदृशता पर उसी प्रकार के बन जाते हैं। पूर्वाञ्चल के सादृश्य पर कूर्माचल को भी लोग अज्ञानतावश कूर्माञ्चल कहने लगे हैं। इस प्रकार सादृश्य से भाषा में बड़ा परिवर्तन आ जाता है, यह बाह्य और आभ्यंतर दोनों वर्गों में आता है। पाश्चात्य के सादृश्य पर पौर्वात्य शब्द चल रहा है, 'एकदश' द्वादश के सादृश्य पर एकादश हो गया है।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त भी भाषा-परिवर्तन के अन्य अनेक कारण हो सकते हैं। वस्तुतः इनकी संख्या निश्चित करना कठिन ही है।

(८) प्रश्न—भाषा की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों द्वारा प्रस्तुत मतों का विवेचन कीजिए।

(अथवा)

भाषा की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न सिद्धान्तों का संक्षेप में परिचय दीजिए।

उत्तर—भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न अत्यन्त उलझा हुआ है। इस विषय पर विद्वानों ने जो विचार प्रस्तुत किये हैं, वे अपूर्ण और अनिर्णयात्मक हैं। इसी कारण आजकल भाषाविज्ञान में इसे विषय से पृथक् माना जाने लगा है, फिर भी मनुष्य की स्वाभाविक जिज्ञासावश इस विषय में विद्वानों द्वारा जो विचार व्यक्त किये गये हैं, उनके ऐतिहासिक महत्त्व के कारण उन्हें यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है—

भाषा की उत्पत्ति पर विचार के लिए विद्वानों ने दो मार्गों का आश्रय लिया है—(१) प्रत्यक्ष मार्ग, (२) परोक्ष मार्ग।

आजकल विकास की तीव्रगति को देखते हुए परोक्ष मार्ग की चर्चा करना व्यर्थ-सा प्रतीत होता है, क्योंकि इस मार्ग में बच्चों की भाषा, आदिम जातियों की भाषा आदि जो विचार सामग्री के रूप में अपनाते हैं, उससे भाषा की उत्पत्ति का अनुमान करना आज व्यावहारिक प्रतीत नहीं होता है। कारण, आज के बच्चे जिस गति से भाषा सीखते हैं, आदिम समय में यह संभव नहीं है। परोक्ष मार्ग की चर्चा परम्परा का निर्वाह मात्र है।

प्रत्यक्ष मार्ग के अनुसार भाषा की उत्पत्ति एवं विकास—प्रत्यक्ष मार्ग में भाषा की उत्पत्ति तथा विकास संबंधित निम्नलिखित सिद्धान्त का उल्लेख प्रमुख रूप से किया जाता है—

१. **दैवी सिद्धान्त**—(Divine Theory)—इसके अनुसार भाषा की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा हुई है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक धर्म वालों के द्वारा अपनी भाषा को ही 'आदिम भाषा' स्वीकार किया जाता है। अर्थात् वैदिक धर्मावलम्बियों के अनुसार वैदिक या संस्कृत को, बौद्धों के अनुसार पालि को, जैनियों के अनुसार अर्धमागधी को, सिक्खों के अनुसार पंजाबी को, ईसाइयों के अनुसार हिब्रू या ईब्रानी को तथा मुसलमानों के अनुसार अरबी को, जो इन लोगों के धार्मिक ग्रन्थों की भाषा है, उसे ही आदिम भाषा माना जाता है और उसी से विश्व की भाषाओं की उत्पत्ति मानते हैं। सभी धर्मों में इस तरह की बातें मिलती हैं। उदाहरणार्थ—वैदिक धर्मावलम्बियों के अनुसार 'ऋग्वेद' में कहा गया है कि—

'दैवी वाचमजनयन्त देवाः तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।'

—ऋ० ८।१००।११

अर्थात् देवों ने वाणी को उत्पन्न किया तथा सब प्राणी उसको बोलते हैं।

इसी प्रकार महावैयाकरण पाणिनी की अष्टाध्यायी के आधारभूत १४ प्रत्याहार सूत्रों को भी माहेश्वर-सूत्र अर्थात् शिवजी द्वारा उत्पन्न माना गया है—

'नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्'।

भाषा की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त कोरी श्रद्धा पर आधारित तथा मात्र श्रद्धालुओं के लिए ही सन्तोषावह है। क्योंकि—

(अ) जर्मन विद्वान् हर्डर के अनुसार यदि भाषा की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा होती, तो उसमें कहीं अधिक पूर्णता, व्यवस्था तथा बुद्धिसंगतता होती। भाषा असंगतियों, अनियमितताओं तथा अपवादों से पूर्णतया रहित होती।

(ब) पशुओं की भाँति मनुष्यों की भी एक ही भाषा होती और प्रत्येक मानव को जन्म से ही भाषा प्राप्त होती, उसे सीखना नहीं पड़ता।

(स) यदि भाषा ईश्वर द्वारा उत्पन्न होती तो उसमें परिवर्तन, संशोधन की आवश्यकता न पड़ती; किन्तु भाषा का रूप सदैव बदलता रहता है।

इस प्रकार सिद्ध होता है कि भाषा की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त तर्कसंगत नहीं है। वैज्ञानिक दृष्टि से इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

२. **संकेत-सिद्धान्त**—इसे 'निर्णय-सिद्धान्त' भी कहा जाता है। इसके प्रतिपादक फ्रांसीसी विचारक रूसो हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार आदिम

मानव अपने मनोभावों को आंगिक संकेतों के द्वारा व्यक्त किया करता था, किन्तु बाद में कठिनाई होने पर सामाजिक समझौते के आधार पर उसने विभिन्न—भावों, विचारों तथा पदार्थों के लिए विभिन्न ध्वन्यात्मक संकेत निश्चित कर लिये।

इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी सीमा तो यही है कि जब विचार-विमर्श के लिए कोई भाषा नहीं थी तो यह संभव कैसे हुआ और यदि भाषा थी तो उन्हें दूसरे साधन की क्या आवश्यकता थी। इस प्रकार संकेत-सिद्धान्त भी भाषा की उत्पत्ति के लिए उपयुक्त नहीं माना गया।

३. धातु-सिद्धान्त या अनुरणन-सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के मूल प्रवर्त्तक प्लेटो थे। बाद में, जर्मन विद्वान् 'हैज' तथा उनके बाद मैक्समूलर ने इसे व्यवस्थित रूप दिया। इस सिद्धान्त के अनुसार भाषा मनुष्य की स्वाभाविक प्रतिभा की देन है, अनुभव से हम जानते हैं कि चोट करने पर लोहा, लकड़ी, पत्थर आदि पदार्थों से भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनियाँ निकलती है, इसे रणन कहा जाता है। यही वस्तु की पहचान है।

सृष्टि के आरम्भ में प्रत्येक वस्तु को देखकर मानव-मस्तिष्क में झंकार हुई। उसी आधार पर प्रत्येक वस्तु का अलग-अलग नाम रखा गया। वह नामकरण-प्रक्रिया रणन-मूलक थी। नदी की कल-कल या नद-नद ध्वनि से प्रेरित होकर उसका नाम नदी रखा गया। इसी आधार पर गो, अश्व, पर्वत, मनुष्य आदि नाम रखे गये, इसी प्रकार लगभग ४००–५०० मूल शब्दों या मूल धातुओं का निर्माण किया, इस प्रकार मनुष्य को भाषा प्राप्त हो गई। इन्हीं मूल धातुओं से नये-नये शब्द बनाकर काम चलने लगा।

यह सिद्धान्त भी विज्ञान की कसौटी में खरा नहीं उतर पाया, स्वयं मैक्समूलर ने इसका परित्याग कर दिया था।

इसे डिग-डाँग सिद्धान्त भी कहते हैं। घंटे की झंकार के आधार पर यह नाम पड़ा। इस सिद्धान्त में ४००-५०० मूल धातुएँ या मूल शब्द स्वीकार किये गये, इसलिए इसे धातु-सिद्धान्त भी कहते हैं, किन्तु वस्तु देखकर या उसे मारने पर सभी व्यक्ति एक-सी झंकार महसूस नहीं कर सकते।

यह सिद्धान्त शब्द और अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध मानकर चलता है, वास्तव में ऐसा नहीं है।

भाषाएँ धातुओं से बनी है, यह बात भी चीनी आदि भाषाओं पर लागू नहीं होती है। अतः भाषा की उत्पत्ति का समाधान नहीं हो पाया।

४. अनुकरण-सिद्धान्त—ह्विटनी, पॉल, हर्डर आदि विद्वान् इस सिद्धान्त के प्रमुख मानने वालों में है। मैक्समूलर ने इस सिद्धान्त का उपहास करने के लिए ही 'वाऊ-वाऊ सिद्धान्त' कहा था, जो कि कुत्ते की बोली का सूचक है। अंग्रेजी में इसके लिए 'ऑतमॉटोपोयक' या 'ईकोइक' शब्द प्रचलित हैं, हिन्दी में इसे अनुकरणमूलकतावाद भी कहा जाता है। जिस प्रकार अनुरणन सिद्धान्त में यह माना जाता है कि मनुष्य ने जड़ पदार्थों से उत्पन्न ध्वनियों का अनुकरण किया, उसी प्रकार इस सिद्धान्त में मनुष्य ने जड़-चेतन सभी पदार्थों की ध्वनियों का अनुकरण करते हुए पहले कुछ शब्द बना लिये, फिर उन्हीं शब्दों से अन्य शब्द बनाते हुए भाषा का विकास कर लिया। इनके अन्तर्गत ध्वन्यात्मक, अनुकरणात्मक और दृश्यात्मक तीन उपसिद्धान्त माने जाते हैं। यास्क भी शब्दानुकृति का शब्द-निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग मानते हैं।

किन्तु यह सिद्धान्त भी माननीय नहीं हैं। 'ऑटो जेस्पर्सन' ने इस सिद्धान्त को मान्यता देते हुए कहा है कि अनुकरणमूलक शब्दों से भाषा में अनेक शब्दों का विकास हुआ है और हो सकता है। किन्तु सब मिलाकर भी इस सिद्धान्त से भाषा की उत्पत्ति का आंशिक समाधान हो सकता है, पूर्ण नहीं।'

५. आवेग-सिद्धान्त—हिन्दी में इसे मनोरागाभिव्यंजकशब्दमूलकतावाद या मनोरमाभिव्यंजकतावाद भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार आदि-काल का भावुक मानव भावावेश या भावावेग में हर्ष, शोक, क्रोध, विस्मय, घृणा के व्यंजक जिन ओह, आह, हाय, ओफ, धिक्, छिः, पूह, पिश, फाई आदि ध्वनियों को उत्पन्न करता था, आगे चलकर उन्हीं से भाषा का विकास हुआ। उदाहरणार्थ—धिक् से धिक्कार, धिक्कारना, धिक्-धिक् करना आदि अनेक शब्द बनते हैं। इस सिद्धान्त में निम्न दोष हैं—

आवेग-शब्द आवेगात्मकता को ही प्रकट करते हैं, सामान्य भावाभिव्यक्ति को नहीं, अतएव इनका सम्बन्ध भाषा के मुख्य अंग में नहीं है।

प्रो० बेन्फी ने इस मत का खण्डन किया है। आवेग-ध्वनियाँ भाषा की अक्षमता को सूचित करती हैं कि ये भाव भाषा द्वारा व्यक्त नहीं किये जा सकते हैं, अतः इनसे भाषा की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

६. **श्रम-ध्वनि-सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त को 'श्रमपरिहरणमूलकतावाद' या हे-हो-वाद भी कहते हैं। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक न्यारे नामक भाषा-शास्त्री हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार जब व्यक्ति श्रम करता है, तो उसके श्वास की गति तीव्र हो जाती है और अधिक तीव्रता के कारण स्वरतंत्रियों में कम्पन उत्पन्न हो जाता है। परिणामस्वरूप कुछ ध्वनियाँ स्वाभाविक रूप से मुँह से निकल पड़ती है। धोबियों की हियो-हियो या छियो-छियो, मल्लाहों की हैया-हैया आदि ध्वनियाँ इसी प्रकार की हैं।

आवेग-सिद्धान्त की भाँति ही इस सिद्धान्त द्वारा उत्पन्न ध्वनियाँ भी निरर्थक ही हैं। अतः निरर्थक शब्दों से सार्थक भाषा की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। भाषा आवेग शब्दों की संख्या नगण्य होती है।

७. **इंगित-सिद्धान्त**—डॉ० राये, रिचर्ड तथा जोहान्सन इसके प्रतिपादक हैं। इस मत के अनुसार आदि मानव ने स्वयं अपने ही अंगों से होने वाली चेष्टाओं या ध्वनियों का वाणी द्वारा अनुकरण किया तथा इस प्रकार भाषा बन गई। उदाहरणार्थ जब मनुष्य पानी पीता था, तो ओठों को पास लाकर अन्दर को श्वास खींचने से 'पा-पा' जैसी ध्वनि होती थी। उसी से पानी, पीना, पिपासा आदि शब्दों का विकास हुआ।

यह सिद्धान्त भी सारहीन है, क्योंकि मानव द्वारा अपनी ही चेष्टाओं या ध्वनियों का अनुकरण करना कुछ युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है। इससे भी भाषोत्पत्ति का समाधान नहीं होता है।

८. **सम्पर्क-सिद्धान्त**—प्रसिद्ध विद्वान् 'जी० रेवेज' इसके प्रतिपादक हैं। इनके मतानुसार आदि मानव जब अपने दूसरे साथी मनुष्यों के तथा अपने चारों ओर के विस्तृत वातावरण के सम्पर्क में आया, तभी इस सम्पर्क के परिणामस्वरूप भाषा उत्पन्न हुई। 'रेवेज' ने अपने सिद्धान्त में क्रियात्मकता को विशेष महत्त्व दिया। पहले वे ध्वनियाँ चिल्लाहट के रूप में रही होंगी, धीरे-धीरे इन्होंने सोद्देश्य पुकार का रूप लिया होगा और बाद में ये ही व्यवस्थित शब्दों का रूप ग्रहण कर भाषा बनी होंगी। 'रेवेज' की यह भी मान्यता है कि भाषा में पहले क्रियात्मक शब्द बने होंगे और बाद में संज्ञा शब्द।

सम्पर्क-सिद्धान्त भी आंशिक रूप में ही भाषा की उत्पत्ति की समस्या का समाधान कर सका है, पूर्णरूप से नहीं।

९. **समन्वित-सिद्धान्त**—उपर्युक्त मतों में से अधिकांश सिद्धान्त भाषा की उत्पत्ति की समस्या के समाधान में कुछ भी सहायक सिद्ध नहीं होते हैं, कुछ सिद्धान्तों में आंशिक समाधान की क्षमता का अनुमान होता है, किन्तु वे भी एकांगी रूप में भाषा की उत्पत्ति का समाधान स्पष्टतः नहीं कर सकते हैं। अतः आंशिक सत्य वाले सिद्धान्तों को समन्वित कर इस प्रश्न का समाधान खोजना युक्तिसंगत ही है। प्रसिद्ध विद्वान् 'हेनरी स्वीट' ने यही किया है। उन्होंने अनुकरण-सिद्धान्त, आवेग-सिद्धान्त, प्रतीक-सिद्धान्त एवं उपचार-सिद्धान्त का समन्वित रूप ही प्रस्तुत किया है।

'स्वीट' के अनुसार भावाभिव्यंजक, अनुकरणात्मक तथा प्रतीकात्मक शब्दों से भाषा प्रारम्भ हुई। फिर उपचार के कारण बहुत से शब्दों का अर्थ विकसित होता गया या नवीन शब्दों का निर्माण होता गया।

वस्तुतः भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न अभी तक उलझा हुआ ही है। भविष्य में भी इसका कोई समाधान हो सकेगा, यह आशा प्रतीत नहीं होती। इसका कारण यह है कि इसमें कोई भी प्रमाण प्रत्यक्ष नहीं है तथा अनुमान प्रमाण का विज्ञान में कोई महत्त्व नहीं है। यही कारण है कि फ्राँस की 'भाषाविज्ञान परिषद्' ने अपने कार्यक्रमों में भाषा की उत्पत्ति के विचार पर सदैव के लिए प्रतिबन्ध लगा दिया था।

अन्त में हम कह सकते हैं कि जितनी खोजें हुई हैं, उनके आधार पर केवल इतना कहना ही सम्भव है कि भाषा की उत्पत्ति भावाभिव्यंजक, अनुकरणात्मक तथा प्रतीकात्मक शब्दों से हुई और इसमें इंगित-सिद्धान्त, संगीत-सिद्धान्त एवं सम्पर्क-सिद्धान्त से भी सहायता मिली। आगे चलने पर नवाभिव्यक्ति की आवश्यकता, योग्यतमावशेष-सिद्धान्त, अर्थ तथा ध्वनि में परिवर्तन के कारण भाषा में तेजी से परिवर्तन आ गया। इस परिवर्तन की तीव्रता और विशालता के कारण भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ भी कहना प्रायः असम्भव-सा लगता है।

(९) **प्रश्न**—भाषाओं के वर्गीकरण के आधारों पर प्रकाश डालते हुए आकृतिमूलक वर्गीकरण पर विस्तार से विचार कीजिए।

(अथवा)

आकृतिमूलक वर्गीकरण से आप क्या समझते हैं ? उसके भेदों पर विस्तार के साथ प्रकाश डालिए एवं विशेषताएँ बतलाइए।

उत्तर—आज का युग वैज्ञानिक युग है। आज प्रत्येक विषय के अध्ययन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का महत्त्व है। अतः भाषा का क्षेत्र भी उससे वंचित नहीं है। भाषाओं के वर्गीकरण द्वारा हमें उनके वैज्ञानिक अध्ययन में सुविधा हो जाती है।

विश्व की सभी भाषाओं की गणना हो चुकी है, यह कहना सन्दिग्ध है। फिर भी विद्वानों ने इस दिशा में अथक प्रयास किया है। कुछ लोगों के अनुसार विश्व में कुल २७९६ भाषाएँ हैं। अनुमानतः विश्व में भाषाओं की कुल संख्या ३००० स्वीकार की जाती है। इतनी भाषाओं में से प्रत्येक का ज्ञान प्राप्त करना किसी भी व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं। अतः वर्गीकरण द्वारा विश्व की भाषाओं का स्थूल परिचय प्राप्त हो जाता है।

विश्व-भाषाओं के वर्गीकरण के प्रमुख आधार—भाषाओं के वर्गीकरण की प्रारंभिक अवस्था में भाषाओं का वर्गीकरण देश, जाति या धर्म के आधार पर किया जाता था, किन्तु वह नितान्त अनुपयोगी सिद्ध हुआ है। इस प्रकार के वर्गीकरण में विभिन्न भाषाओं के स्वरूप का ज्ञान ठीक-ठीक नहीं हो पाता था। कारण, कभी तो असमान भाषाएँ एक ही वर्ग में परिगणित हो जाती थीं तथा कभी समान भाषाएँ एक वर्ग में नहीं आ पाती थीं। अतः देश, जाति या धर्म के आधार पर भाषाओं का वर्गीकरण उपयुक्त नहीं माना गया।

आजकल विश्व की भाषाओं के केवल दो वर्गीकरण ही प्रचलित हैं—

१. आकृतिमूलक या रूपात्मक वर्गीकरण, जिसमें आकृति अर्थात् रूपतत्त्व को समानता का आधार बनाया गया है।

२. पारिवारिक या ऐतिहासिक वर्गीकरण, जिसमें अर्थतत्त्व तथा रूपतत्त्व दोनों को आधार बनाया जाता है।

आकृतिमूलक वर्गीकरण—आकृति अर्थात् शब्दों या पद की रचना के आधार पर जो वर्गीकरण किया जाता है, वह आकृतिमूलक वर्गीकरण कहा जाता है। एक ही मूल शब्द से विभिन्न प्रत्यय लगाकर जो अनेक पद बनाये जाते हैं, उन पदों में लगने वाले प्रत्ययों का दूसरा नाम रूप है। अतः इस रूप (रूपतत्त्व) के कारण, इसी आकृतिमूलक वर्गीकरण का नाम रूपात्मक वर्गीकरण भी है। पदरचना या वाक्यरचना भी आकृति के ही अन्तर्गत है, अतः इसी वर्गीकरण को पदात्मक या वाक्यमूलक भी कह दिया जाता है। इस

वर्गीकरण में विभिन्न भाषाओं में प्रयुक्त पदों की आकृति अर्थात् रूपरचना पर ध्यान दिया जाता है।

इस वर्गीकरण के अन्तर्गत भाषाओं में आकृति की समानता देखी जाती है। प्रायः सभी भाषा-वैज्ञानिकों ने अपने ग्रन्थों में आकृतिमूलक वर्गीकरण के आधार पर विश्व की भाषाओं का वर्गीकरण किया है। आकृतिमूलक वर्गीकरण के आधार पर भाषाओं को दो भागों में विभक्त किया जाता है—

१. **अयोगात्मक**—वह भाषावर्ग, जिसका भाषाओं में अर्थतत्त्व के साथ रूपतत्त्व (प्रत्यय) का योग नहीं होता है।

२. **योगात्मक**—वह भाषा-वर्ग, जिसका भाषाओं में अर्थतत्त्व के साथ रूपतत्त्व का योग होता है।

अर्थतत्त्व के साथ रूपतत्त्व के योग की शैली के आधार पर योगात्मक भाषाओं को पुनः तीन विभागों में विभक्त किया जाता है—

(क) अश्लिष्ट या प्रत्यय प्रधान।
(ख) श्लिष्ट या विभक्ति प्रधान।
(ग) प्रश्लिष्ट या समास प्रधान।

१. **अयोगात्मक भाषाएँ**—हिन्दी में इस वर्ग को निरवयव या व्यास प्रधान भी कहा जाता है। इसी प्रकार अंग्रेजी में इसे Inorganic भी कहते हैं। इस वर्ग की भाषाओं में प्रयुक्त शब्द मात्र अर्थतत्त्व अर्थात् प्रकृति ही होते हैं। प्रत्यय लगाकर उनके विभिन्न रूप नहीं बनते। अतः इस वर्ग की भाषाओं को धातु प्रधान या एकाक्षर भी कहते हैं। इन भाषाओं में रूपतत्त्व का काम स्थान, निपात शब्द या सुर से लिया जाता है।

अयोगात्मक भाषाओं के वाक्यों में सभी शब्द स्वतंत्र होते हैं, संस्कृत आदि की तरह न तो उनके रूप चलते हैं और न कारक-रचना या काल-रचना ही होती है और न ही शब्दों के संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया तथा क्रिया-विशेषण आदि भेद ही होते हैं। अयोगात्मक वर्ग की भाषाओं के वाक्यों में किस शब्द का क्या अर्थ है ? यह निर्णय—(१) वाक्य में उस शब्द के साथ, (२) उस शब्द के साथ प्रयुक्त निपात शब्द तथा (३) उस शब्द में प्रयुक्त सुर के द्वारा होता है। अतः इस वर्ग की भाषाओं में स्थान, निपात एवं सुर का बहुत महत्त्व है।

इस वर्ग की प्रमुख भाषा चीनी है। इसके अतिरिक्त सूडानी, तिब्बती, बर्मी तथा स्यामी भाषाएँ भी इसी वर्ग की हैं।

स्थान के आधार पर अर्थ-निर्णय—चीनी भाषा के वाक्यों में शब्दों का स्थान बदल देने पर उनका अर्थ भी बदल जाता है। जैसे—

शब्द		**अर्थ**
न्गो	=	मैं
नी	=	तू
ता	=	मारना

उपर्युक्त शब्दों को वाक्य में यदि निम्न क्रम से रखा जाय—

'न्गो ता नी' तो अर्थ होगा—मैं मारता हूँ तुझे (मैं तुझे मारता हूँ)। यदि स्थान बदल कर निम्न क्रम में रखें—

'नी ता न्गो' तो अर्थ बदल जाएगा—तू मारता है मुझे (तू मुझे मारता है)।

इसी प्रकार—ता लेन = बड़ा आदमी (है)। किन्तु लेन ता = आदमी बड़ा (है)।

निपात शब्द के आधार पर अर्थ-निर्णय—चीनी भाषाओं में निपात शब्द की सहायता से भावों को स्पष्टता प्रदान की जाती है। उदाहरणार्थ—'मु (माता) छिह (का) त्सु (पुत्र)।'

इस वाक्य में 'छिह' एक निपात के रूप में प्रयुक्त है, जो यह स्पष्ट करता है कि पुत्र माता का ही है। 'छिह' के अन्य अर्थ भी हैं, किन्तु यहाँ पर वह सम्बन्धकारक का ही कार्य कर रहा है।

निपात द्वारा अर्थ-परिवर्तन भी हो जाता है। जैसे—

'वांग (राजा) पाओ (रक्षा करना) मिन (जनता)'।

अर्थात् राजा जनता की रक्षा करता है, किन्तु इस वाक्य में वांग के बाद 'छिह' निपात का प्रयोग करने पर अर्थ होगा—

वांग छिह पाओ मिन = राजा द्वारा रक्षित जनता।

सुर (लहजा या Tone) के आधार पर अर्थ-निर्णय—किसी शब्द का उच्चारण करते समय उसमें प्रयुक्त किसी स्वर को उदात्त-अनुदात्त की भाँति ही आवाज में उतार-चढ़ाव लाकर बोलना। अयोगात्मक वर्ग की भाषाओं में 'सुर' के प्रयोग से अर्थों में बहुत परिवर्तन हो जाता है। चीनी भाषा का एक

शब्द 'क्वेइ' शब्द में 'इ' का उच्चारण यदि उदात्त हो, तो अर्थ होगा—'दुष्ट', किन्तु 'इ' का उच्चारण यदि अनुदात्त हो, अर्थ होगा—'सम्मान्य'। एक ही शब्द 'ब ब ब ब' का उच्चारण चार विभिन्न सुरों में करने से अर्थ होगा—'तीन महिलाओं ने, राजा के, कृपापात्र के, कान उमेठे।' इसी प्रकार 'येन्' इस शब्द का भी अर्थ सुर-भेद से चार प्रकार का हो जाता है—हँस, धुँआ, नमक और आँख।

इस प्रकार अयोगात्मक वर्ग की भाषाओं में स्थान, निपात तथा सुर का बहुत महत्त्व है। इन भाषाओं का व्याकरण इन्हीं का विवेचन करता है। इन भाषाओं में भी चीनी भाषा में स्थान तथा सुर का, सूडानी भाषा में स्थान का तथा स्यामी भाषा में सुर तथा बर्मी-तिब्बती में निपात का विशेष महत्त्व है।

२. योगात्मक भाषाएँ—

(क) अश्लिष्ट या प्रत्यय प्रधान भाषाएँ—'श्लिष्ट' का अर्थ है अत्यधिक चिपका हुआ। इसमें निषेधात्मक' 'अ' जोड़ने से अर्थ हुआ—जो अत्यधिक चिपका हुआ नहीं है, फिर भी चिपका हुआ तो है ही। अतः अश्लिष्ट वर्ग की भाषाएँ वे हैं, जिनमें प्रत्यय प्रकृति से चिपका हुआ तो रहता है, किन्तु इतना अधिक चिपका हुआ नहीं है कि उसे पृथक् रूप में न जाना जा सके। वस्तुतः प्रत्यय का अर्थ ही है—जो पृथक् से पहचाना जा सके, अन्यथा वह विभक्ति या समास के नाम से जाना जाता। जिस प्रकार संस्कृत, हिन्दी आदि में 'घनत्व' तथा विनम्रता' आदि शब्दों में स्पष्ट है कि 'घन' प्रकृति से त्व तथा विनम्र प्रकृति से ता प्रत्यय जुड़ा है। इसी प्रकार प्रकृति+प्रत्यय की स्पष्टता इस वर्ग की भाषाओं में प्रायः देखी जाती है। बन्तु, यूराल, अल्ताई, द्रविड़ भाषा-परिवारों की भाषाएँ तथा मुण्डा भाषाएँ इसी वर्ग की हैं।

अश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं को अर्थतत्त्व में रचना के योग के स्थान के कारण चार वर्गों में विभाजित किया जाता है—

(१) पूर्व-योगात्मक, (२) मध्य-योगात्मक, (३) अन्तयोगात्मक तथा (४) पूर्वान्त-योगात्मक। डॉ० भोलानाथ तिवारी ने 'आंशिक योगात्मक' भी एक भेद माना है। उनके मतानुसार इस वर्ग की भाषाएँ योगात्मक एवं अयोगात्मक दोनों के मध्य में पड़ती हैं।

१. **पूर्वयोगात्मक भाषाएँ**—इन भाषाओं में प्रत्यय प्रकृति के पूर्व में जुड़ता है। इन प्रत्ययों की तुलना संस्कृत भाषा के उपसर्गों से की जा सकती है। दक्षिणी अफ्रीका के 'बन्तू' परिवार की भाषाएँ इनका उदाहरण हैं, जिसमें से काफिरी भाषा के उदाहरण से इस भाषा-वर्ग की रचना को समझा जा सकता है—

'काफिरी' भाषा के सर्वनाम इस प्रकार हैं—

जे	=	वह
नि	=	वे
ति	=	हम

इनमें कर्मवाचक 'कु' प्रत्यय जोड़ने पर उनका रूप होगा—

कुजे	=	उसको
कुनि	=	उनको
कुति	=	हमको

इसी प्रकार बन्तू परिवार की एक अन्य भाषा 'जुलू' भाषा का एक उदाहरण द्रष्टव्य है। 'जुलू' भाषा में 'न्तु' का अर्थ है—मनुष्य। वचन-सूचक प्रत्यय इस प्रकार हैं—

उमु = एकवचन का सूचक प्रत्यय।

अव = बहुवचन का सूचक प्रत्यय।

यदि एक मनुष्य को सूचित करना हो तो 'न्तु' के पूर्व उमु प्रत्यय जोड़कर रूप बनेगा—उमुन्तु = एक आदमी।

अनेक मनुष्यों के लिए—अवन्तु = अनेक आदमी।

इस प्रकार इन भाषाओं में प्रत्यय प्रकृति के पूर्व जुड़ता है तथा उसे पृथक् रूप से पहचाना जा सकता है।

२. **पर-प्रत्यय-संयोगी**—इन भाषाओं में प्रत्यय प्रकृति में पर अर्थात् बाद में जुड़ता है। इन्हें अन्तयोगात्मक भाषाएँ भी कहते हैं। इस वर्ग की भाषाओं में 'यूराल', 'अल्ताई' तथा 'द्रविड़' भाषा-परिवार आते हैं, जिनमें अनेक भाषाएँ हैं। इस वर्ग की भाषाओं में पहले प्रकृति, फिर वचन-सूचक प्रत्यय तथा उसके बाद कारक-सूचक प्रत्यय लगता है। उदाहरण—अल्ताई परिवार की तुर्की भाषा से—

अत् (प्रकृति) = घोड़ा
+लर (बहुवचन प्रत्यय) = घोड़े । } = अत्लरी = घोड़ों को
+ई (कर्मकारक प्रत्यय) को

३. **मध्यप्रत्यय-संयोगी भाषाएँ**—भारत के 'मुण्डा' परिवार की संथाली भाषा इसी वर्ग की है । संथाली भाषा में प्रत्यय प्रकृति के मध्य में जुड़ता है । उदाहरण—

मंझि = एक मुखिया ।

अब यदि अनेक मुखिया कहना हो, तो बहुवचन-सूचक 'प' उपर्युक्त मंझि के मध्य में जुड़कर रूप बनेगा—

मपंझि = अनेक मुखिया ।

इसके अतिरिक्त 'मलय' भाषा-परिवार की 'टगलॉक' भाषा भी मध्यप्रत्यय-संयोगी ही है । इन भाषाओं में मूलशब्द प्रायः दो अक्षरों का होता है ।

४. **पूर्वान्त-प्रत्यय-संयोगी भाषाएँ**—इस वर्ग की भाषाओं में प्रत्यय प्रकृति के पहले तथा बाद में दोनों स्थानों पर लगता है । न्यूगिनी द्वीप की मफोर भाषा इसी परिवार की है । उदाहरण—

म्नफ़ = सुनना ।

ज + म्नफ़ + उ = जम्नफ़उ = मैं सुनता हूँ तुझे (अर्थात् मैं तेरी बात सुनता हूँ) । यहाँ ज, म्नफ़ प्रकृति के पूर्व तथा उ प्रत्यय अन्त में लगा है ।

इसके अतिरिक्त कुछ भाषाएँ ऐसी भी हैं, जिनमें आदि, मध्य और अन्त में प्रत्यय जुड़ते हैं । मलय शाखा की भाषाएँ इसका उदाहरण है ।

५. **श्लिष्ट या विभक्ति प्रधान भाषाएँ**—श्लिष्ट से तात्पर्य है—प्रकृति से प्रत्यय का घनिष्ठता के साथ संयुक्त होना । अश्लिष्ट या प्रत्यय प्रधान भाषाओं में प्रत्यय प्रकृति के साथ जुड़कर भी अपना स्वरूप पृथक् बनाये रखता है । साथ ही, प्रत्यय प्रकृति जुड़ने से प्रकृति में कोई विकार भी नहीं होता है । इसके विपरीत, जब प्रकृति और प्रत्यय घनिष्ठता से संयुक्त होते हैं, तो इसे श्लिष्टता कहा जाता है । इस प्रकार प्रत्यय जुड़ने से प्रकृति में विकार भी हो जाता है तथा प्रकृति प्रत्यय को पृथक्-पृथक् पहचानना कठिन हो जाता है । प्रत्यय ही विभक्ति का रूप ले लेता है ।

संस्कृत, ग्रीक, लैटिन तथा अरबी इसी प्रकार की भाषाएँ हैं ।

श्लिष्ट या विभक्ति प्रधान भाषाओं के दो वर्ग किये जाते हैं—

(क) **अन्तर्मुखी विभक्ति प्रधान भाषाएँ**—इनमें विभक्ति प्रकृति के अन्दर ही जुड़ती है। 'सामी-परिवार' की प्रमुख अरबी तथा 'हामी-परिवार' की मिस्री भाषाएँ इसी प्रकार की हैं। उदाहरण के लिए—अरबी के क्-त्-ल् (मारना) धातु को लिया जा सकता है। इसमें विभिन्न स्वरों अर्थात् प्रत्ययों को जोड़कर—क़तल=उसने मारा, क़ातिल=मारने वाला, क़ितल=आघात, क़ित्ल=शत्रु, क़ुतिल=वह मारा गया तथा यक़्तुलु=वह मारता है, आदि अनेक रूप बनाये जाते हैं। अन्तर्मुखी विभक्ति प्रधान भाषाओं में भी दो अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती है—संयोगात्मक तथा वियोगात्मक।

(ख) **बहिर्मुखी विभक्ति प्रधान भाषाएँ**—इनमें प्रकृति के बाहर विभक्ति या प्रत्यय जुड़ता है। यह प्रकृति के पूर्व में जुड़ सकता है और बाद में भी। भारोपीय परिवार की भाषाएँ संस्कृत, ग्रीक, लैटिक, अवेस्ता आदि इसी वर्ग की हैं। उदाहरण के लिए संस्कृत भाषा से—

भवति=यहाँ 'भू' (भव्) प्रकृति (धातु) से 'अ' विकरण तथा 'ति' प्रत्यय (विभक्ति), बाद में प्रकृति के बाहर से लगा है।

इसी प्रकार 'रामः' में विसर्ग (:=सु) 'रामम्' में अम् आदि भी प्रकृति के बाहर ही जुड़े हैं।

बहिर्मुखी विभक्ति प्रधान भाषाओं की भी दो अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। संयोगात्मक जैसे—संस्कृत और वियोगात्मक जैसे—आधुनिक भाषा हिन्दी।

६. **प्रश्लिष्ट या समास प्रधान भाषाएँ**—प्रश्लिष्ट से तात्पर्य है—प्रकर्षता के साथ (प्र) चिपका हुआ (श्लिष्ट)। जिन भाषाओं में प्रकृति के साथ प्रत्यय का योग इस रूप में पाया जाता है, उन्हें समास प्रधान भाषाएँ कहा जाता है। इन भाषाओं के शब्दरूपों में प्रकृति या प्रत्यय की पृथक्-पृथक् कल्पना करना तक कठिन होता है। इसके साथ ही अनेक प्रकृतियाँ (अर्थतत्त्व) भी एक साथ प्रश्लिष्ट रहती हैं। उत्तरी अमरीका की 'चेरोकी' नामक भाषा, ग्रीनलैण्ड की 'एस्किमो' तथा पिरेनीज पर्वतमाला की 'बास्क' नामक भाषाएँ इसी वर्ग की हैं। इन प्रश्लिष्ट भाषाओं के भी दो उपविभाग हैं—पूर्ण प्रश्लिष्ट या आंशिक प्रश्लिष्ट भाषाएँ।

(क) **पूर्ण प्रश्लिष्ट या पूर्णतया समास प्रधान भाषाएँ**—इन भाषाओं में प्रकृति तथा प्रत्यय आदि के रूप में संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण आदि कर्ता, कर्म

तथा क्रिया आदि सबको एकसमान समस्त पद के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। सम्पूर्ण वाक्य एक पद जैसा प्रतीत होता है। चेरोकी भाषा का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

नाधोलिनिन = हमारे लिए एक नौका लाओ।

इस उदाहरण में तीन शब्दों की कल्पना की गयी है—

नतने = लाना (क्रिया)।
अमोखोल = नौका (संज्ञा कर्म)।
निन = हम (सर्वनाम, सम्प्रदान)।

उपर्युक्त उदाहरण में तीनों पद कहाँ, किस रूप में मिले हैं, यह जानना सम्भव नहीं है।

(ख) आंशिक प्रश्लिष्ट या आंशिक समास प्रधान भाषाएँ—इन भाषाओं में प्रश्लिष्ट की भाँति कर्ता, क्रिया, संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण आदि सबका समास न होकर मुख्य रूप से सर्वनाम तथा क्रिया का ही समास होता है। पिरेनीज पर्वतमाला की 'बास्क' भाषा का उदाहरण द्रष्टव्य है—

हर्कात् = मैं तुझे (सर्वनाम) ले जाता हूँ (क्रिया)।
नकार्सु = तू मुझे (सर्वनाम) ले जाता है (क्रिया)।

आकृतिमूलक या रूपात्मक वर्गीकरण ये ही चार भेद है, जिनके अन्य उपभेद भी किये गये हैं। सुविधा के लिए निम्न रेखाचित्र से स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है—
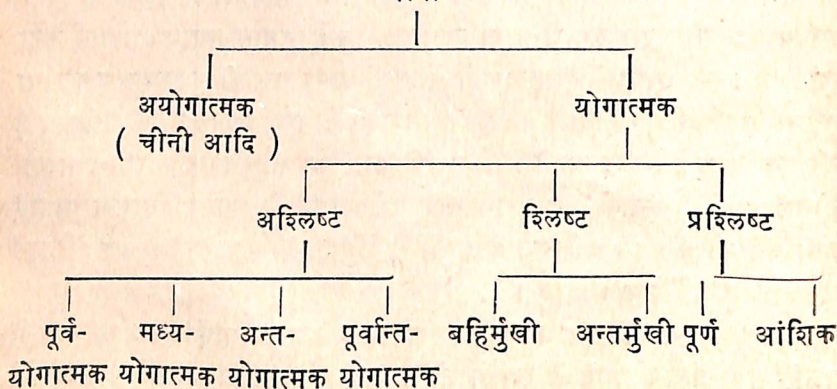
आज आकृतिमूलक वर्गीकरण का महत्त्व कम होता जा रहा है, क्योंकि इसके आधार पर बहुत महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाल पाना सम्भव नहीं है। श्लिष्ट और प्रश्लिष्ट में विभाजक रेखा खींच पाना अत्यन्त कठिन है, साथ ही विश्व की सभी भाषाओं का अध्ययन भी अभी तक पूर्ण नहीं हो पाया है। अतः भाषा-वैज्ञानिक पारिवारिक वर्गीकरण को अधिक वैज्ञानिक और महत्त्व-पूर्ण मानते हैं।

(१०) **प्रश्न**—पारिवारिक वर्गीकरण के आधारों का परिचय देते हुए प्रमुख भाषा-खण्डों पर विस्तार से विचार कीजिए।

(अथवा)

पारिवारिक भाषा-खण्डों का परिचय देते हुए विशेषताएँ बतलाइए।

उत्तर—अर्थतत्त्व तथा रूपतत्त्व (सम्बन्धतत्त्व) की समानता को आधार बनाकर भाषाओं का जो वर्गीकरण किया जाता है, वह पारिवारिक वर्गीकरण कहलाता है। इस वर्गीकरण द्वारा उन सभी भाषाओं को एक भाषा-परिवार में रखा जाता है, जो किसी एक ही मूल भाषा से विकसित हुई हैं। उदाहर-णार्थ—मूल भारोपीय भाषा से विकसित भारत और यूरोप में बोली जाने वाली भाषाएँ भारोपीय भाषा-परिवार में रखी जाती है। कुछ विद्वानों ने इसे ऐतिहासिक वर्गीकरण भी कहा है। भाषा-परिवार में मूल भाषा से दूसरी भाषा का नवीन भाषा के रूप में जन्म नहीं होता, अपितु मूल भाषा ही नवीन भाषा के रूप में विकसित या परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार भाषा-परिवार में मूल भाषा तथा उससे विकसित भाषा (या भाषाएँ) एक ही समय में साथ-साथ नहीं रह सकतीं।

पारिवारिक वर्गीकरण के आधार के सम्बन्ध में डॉ० बाबूराम सक्सेना का निम्नलिखित कथन महत्त्वपूर्ण है—

'पारिवारिक सम्बन्ध के लिए प्रायः स्थानिक समीपता से विचार उठता हैं, शब्दों की समानता से विचार को पुष्टि मिलती है, व्याकरण-साम्य से विचार वादरूप हो जाता है और यदि ध्वनि-साम्य भी निश्चित हो जाय तो सम्बन्ध पूरी तरह निश्चय कोटि को पहुँच जाता है, यदि व्याकरण-साम्य न मिलता हो, तो विचार विचारकोटि से ऊपर नहीं उठ पाता।'

अतः भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण के निम्न आधार हैं—

१. स्थानिक समीपता, २. शब्दों की समानता और ३. व्याकरण-साम्य तथा ४. ध्वनि-साम्य।

डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा ने पारिवारिक वर्गीकरण के आधार के रूप में छः तत्त्वों का उल्लेख किया है—

१. ध्वनि, २. पदरचना, ३. वाक्यरचना, ४. अर्थ, ५. शब्दभण्डार तथा ६. स्थानिक निकटता। वस्तुतः ये छहों तत्त्व उपर्युक्त चार तत्त्वों में ही सम्मिलित हैं।

१. स्थानिक समीपता—स्थानिक निकटता से अभिप्राय भौगोलिक निकटता है। प्रायः देखा जाता है कि जो भाषाएँ आस-पास के भू-भागों में बोली जाती हैं, वे एक ही परिवार की होती हैं। उदाहरण के लिए बंगला, गुजराती, मराठी, पंजाबी और हिन्दी। किन्तु स्थानिक समीपता पारिवारिक वर्गीकरण का आधार नहीं है। मराठी और तेलुगु या मराठी और कन्नड़ भौगोलिक दृष्टि से समीप होते हुए भी एक परिवार की भाषाएँ नहीं हैं। इसके विपरीत हिन्दी और अंग्रेजी यद्यपि स्थानिक समीपता नहीं है, फिर भी ये दोनों एक ही परिवार की भाषाएँ हैं।

२. शब्दों की समानता—शब्दों की समानता के आधार पर भी भाषाओं को एक परिवार की भाषा माना जा सकता है। शब्दों के चयन में हमें सभी वर्गों के प्रचलन में आनेवाले शब्दों को ही लेना चाहिए। उदाहरण के लिए भारोपीय परिवार की विभिन्न भाषाओं में 'पिता' तथा संख्यावाचक सात शब्द ले सकते हैं—

संस्कृत	फारसी	ग्रीक	लैटिन	जर्मन	अंग्रेजी	हिन्दी
१. पितृ	पिदर	Pater	Pater	Vater	Father	पिता
२. सप्त	हफ्त	Hepta	Septem	Sieben	Seven	सात

उपर्युक्त सभी भाषाएँ एक ही परिवार की हैं। इनमें थोड़ा-बहुत ध्वनि सम्बन्धी भेद है, जो ध्वनि-नियमों के अनुसार ही है, इससे उनकी समानता का खण्डन नहीं होता है।

शब्दों की समानता में ध्वनि-साम्य के साथ अर्थ-साम्य होना भी आवश्यक है। शब्द-साम्य के लिए आकस्मिक समानता वाले शब्द; जैसे—अंग्रेजी Near एवं भोजपुरी निअर (समीप) में आकस्मिक समानता है। इसी प्रकार ध्वन्यनुकरणमूलक शब्द तथा उधार लिये गए शब्दों के आधार पर निष्कर्ष नहीं लेना चाहिए। अतः संयोग, अनुकरण, आदान आदि कारणों से समान

दिखलाई देले शब्दों को बचाकर संगोत्री शब्दों के आधार पर किन्हीं भाषाओं के पारिवारिक सम्बन्ध की सम्भावनाओं पर विचार करना चाहिए।

३. **व्याकरण-साम्य**—व्याकरण-साम्य से तात्पर्य पदरचना तथा वाक्य-रचना की समान शैली से है। जहाँ शब्दों की समानता से किन्हीं भाषाओं के एक परिवार का होने की मात्र सम्भावना होती है, वहाँ व्याकरण-साम्य से उस सम्भावना की पुष्टि हो जाती है।

४. **ध्वनि-साम्य**—यह भी भाषाओं के एक परिवार का होने का मुख्य आधार है। इससे वर्गीकरण में काफी सहायता मिलती है। इन सभी आधारों में व्याकरण(पदरचना तथा वाक्यरचना)-साम्य का महत्त्व सर्वाधिक है तथा स्थानिक समीपता का महत्त्व सबसे कम है।

यद्यपि आकृतिमूलक वर्गीकरण की अपेक्षा पारिवारिक वर्गीकरण अधिक वैज्ञानिक एवं पूर्ण है, फिर भी इसमें अभी अनेक कमियाँ हैं। जैसे हमारे पास पर्याप्त सामग्री नहीं है तथा अभी संसार की सम्पूर्ण भाषाओं का समान रूप से अध्ययन भी नहीं हो पाया है।

इस वर्गीकरण से विश्व की भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन होता है तथा मूल भाषा का ज्ञान होकर जातीय एकता को मजबूती मिलती है तथा अनेक जातियों के लुप्त इतिहास का ज्ञान होता है।

विश्व के भाषा-परिवारों का संक्षिप्त परिचय—अध्ययन की सुविधा के लिए विद्वानों ने सम्पूर्ण भाषाओं को भौगोलिक आधार पर चार खण्डों में विभाजित किया है—१. अमरीका खण्ड, २. अफ्रीका खण्ड, ३. यूरेशिया खण्ड तथा ४. प्रशान्त महासागर खण्ड। इसके पश्चात् इन विद्वानों ने उपर्युक्त खण्डों में अनेक भाषा-परिवारों की गणना की है। फ्रेडरिक मूलर आदि विद्वान् १०० भाषा-परिवारों की कल्पना करते हैं, तो अन्य विद्वान् २५० परिवारों तक की गणना करते है, जब कि कुछ केवल १० या १२ भाषा-परिवारों की कल्पना करते हैं।

हम डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा के मतानुसार १८ भाषा परिवारों का परिचय देंगे—

१. यूरेशिया खण्ड—

१. भारत-यूरोपीय परिवार। २. द्राविड़ परिवार।
३. बुरूशक्की परिवार। ४. यूराल-अल्ताई परिवार।

५. काकेशी परिवार। ६. चीनी परिवार।
७. जापानी-कोरियाई परिवार। ८. अत्युत्तरी (हाइपरबोरी) परिवार।
९. बास्क परिवार। १०. सामी-हामी परिवार।

२. **अफ्रीका खण्ड**—

११. सूडानी परिवार। १२. बन्तू परिवार।
१३. होतेन्तोत-बुशमैनी परिवार।

३. **प्रशान्त महासागरीय खण्ड**—

१४. मलय-बहुद्वीपीय परिवार। १५. पापुई परिवार।
१६. आस्ट्रेलियाई परिवार। १७. दक्षिण-पूर्व-एशियाई परिवार।

४. **अमरीका खण्ड**—

१८. अमरीकी परिवार।

उपर्युक्त भाषा-परिवारों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. भारोपीय परिवार—इस परिवार की भाषाएँ भारत, अफगानिस्तान, ईरान और सारे यूरोप में बोली जाती हैं। संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि प्राचीन तथा अंग्रेजी, फ्रेञ्च, जर्मन, हिन्दी, मराठी, गुजराती, पंजाबी तथा बंगला आदि प्रमुख आधुनिक भाषाएँ इसी प्रकार की हैं।

२. द्राविड़ परिवार—इस परिवार की भाषाएँ तमिल, तेलुगु, कन्नड, तथा मलयालम आदि, मुख्य रूप से दक्षिण भारत में बोली जाती हैं। मध्य बलूचिस्तान की ब्राहुई भाषा भी इसी परिवार की है।

३. बुरूशक्की परिवार—भारत के उत्तरी-पश्चिमी सिरे पर बोली जाने वाली इस परिवार की भाषाएँ प्राचीन भारत में अपना विशेष महत्त्व रखती थीं, किन्तु अब ये महत्त्वहीन हो गई हैं।

४. यूराल-अल्ताई परिवार—कुछ विद्वान् इसे दो परिवारों की भाषा मानते हैं, वास्तव में इसके दो उपविभाग हैं—(क) यूराल में फिनी, लापी, एस्तोनी, मग्वार तथा सामयेद भाषाएँ तथा (ख) अल्ताई में तुर्की, उजवेक, मंगोली तथा मंचुई आदि भाषाएँ आती हैं।

५. काकेशी परिवार—कृष्ण सागर तथा कैस्पियन सागर के मध्य स्थित काकेशस पर्वत के समीप के भू-भाग में इस परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। सरकसी, चेचेन, लेगी, ज्यार्गी, मिंगेली तथा रचानी आदि इस प्रकार की

भाषाएँ हैं। ज्यार्जी या ज्यार्जियन, जो स्टालिन की मातृभाषा थी, इस परिवार की प्रमुख भाषा है।

६. **चीनी परिवार**—इसे एकाक्षर परिवार भी कहते हैं, क्योंकि इसमें विभक्ति, प्रत्यय आदि के द्वारा पदरचना नहीं होती है। इस परिवार की भाषाएँ स्थान, सुर तथा निपात प्रधान हैं। चीन, तिब्बत, स्याम तथा बर्मा में इस परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। ये सभी अयोगात्मक भाषाएँ हैं।

७. **जापान-कोरियाई परिवार**—इस परिवार की भाषाएँ जापान तथा कोरिया में बोली जाती हैं। इस परिवार की भाषाओं का ठीक-ठीक अध्ययन न होने के कारण कुछ विद्वानों ने इसे यूराल-अल्ताई परिवार का माना है, तो कुछ ने मलय-पालिनेशियाई परिवार की। अभी तक कोई निर्णय नहीं हो पाया है।

८. **अत्युत्तरी (हाईपरबोरी) परिवार**—इस परिवार का नाम भौगोलिक आधार पर रखा गया है। एशिया के उत्तरी-पूर्वी सिरे पर इस परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। युकयिर, चुकची, अइनू आदि भाषाएँ इसके अन्तर्गत आती हैं।

९. **बास्क परिवार**—पश्चिमी पिरेनीज के समीप, फ्राँस और स्पेन के सीमा प्रदेश में इस परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। इस परिवार की भाषाएँ प्राय: अश्लिष्ट-योगात्मक हैं। बास्क इस परिवार की प्रमुख भाषा है।

१०. **सामी-हामी परिवार**—कुछ विद्वान् इन्हें दो परिवारों का मानते हैं। इन्हें सैमेटिक, हैमेटिक भी कहा जाता है। सामी की प्राचीन भाषा अक्कादी है। आरमेनियन, हिब्रू तथा अरबी भाषाएँ इसी की शाखा हैं। यह अरब, ईराक, फिलिस्तीन, सीरिया, मिश्र आदि देशों में बोली जाती है।

'हामी' शाखा में प्राचीन मिस्री तथा बर्बर भाषाएँ आती हैं। मिस्री भाषा की चित्रलिपि में प्राचीन लेख उपलब्ध हैं। इनका क्षेत्र उत्तरी अफ्रीका है।

११. **सूडानी परिवार**—इस परिवार की भाषाएँ भूमध्य रेखा के उत्तर में पश्चिमी सिरे से लेकर पूर्वी सिरे तक बोली जाती है। इसके उत्तर में सामी-हामी तथा दक्षिण में बन्तू परिवार है। इस परिवार की लगभग ४०० भाषाएँ अयोगात्मक हैं।

१२. बन्तू परिवार—सुदूर दक्षिण-पश्चिमी भाग को छोड़कर लगभग सारे दक्षिण अफ्रीका में इसी परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। इसके उत्तर में सूडानी तथा दक्षिण में होतेन्तोत-बुशमैनी परिवार है। इसकी प्रमुख भाषाएँ स्वाहिली, काफिरी जुलू तथा कांगो हैं, जो अश्लिष्ट-योगात्मक हैं।

१३. होतेन्तोत-बुशमैनी परिवार—इसका क्षेत्र दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका है तथा होतेन्तोत, नामा, हमारा, सन्दवा, एकेवे और औकेवे आदि इसकी प्रमुख भाषाएँ हैं। इस परिवार की भाषाओं में क्लिक ध्वनियाँ पाई जाती हैं, जिनका उच्चारण श्वास को खींचते हुए किया जाता है।

१४. मलय-बहुद्वीपीय परिवार—इसे पोलिनेशियाई या मलय-आस्ट्रेनेशियाई भी कहते हैं। मलय प्रायद्वीप, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो सिलिविज, वाली, फिलीपीन, न्यूजीलैण्ड तथा हवाई आदि प्रशान्त महासागरीय द्वीपों में इस परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। इस परिवार में अनेक भाषा-समूह हैं, जिनमें साहित्यिक भाषाओं का अभाव है। इस परिवार की मलाया की 'मलय', जावा की 'कवि' तथा फिलीपीन की तगल, फारमोसा की फारमोसी आदि प्रमुख भाषाएँ हैं।

१५. पापुई परिवार—इस परिवार की भाषाएँ न्यूगिनी, न्यू-ब्रिटेन के के कुछ भाग तथा सोलोमन द्वीप-समूह आदि में बोली जाती हैं। इसमें १३० के लगभग भाषाएँ हैं। न्यूगिनी की प्रसिद्ध 'मफोर' भाषा इसी परिवार की है। ये अश्लिष्ट योगात्मक हैं।

१६. आस्ट्रेलियाई परिवार—इस परिवार में लगभग एक सौ भाषाएँ हैं, जो आस्ट्रेलिया के उत्तरी तथा दक्षिणी भाग में बोली जाती हैं। इस परिवार की भाषाएँ भी अश्लिष्ट-योगात्मक श्रेणी में आती हैं।

१७. दक्षिण-पूर्व एशियाई परिवार—इसे 'आस्ट्रो-एशियाटिक' परिवार भी कहा जाता है। इस परिवार की भाषाएँ अन्नाम, स्याम, कम्बोडिया, भारत तथा निकोबार द्वीप में बोली जाती हैं। इसे तीन भागों में बाँटा गया है—(१) पश्चिम में मुण्डा या कोल, (२) पूर्व में अन्नाम-मुआङ् तथा (३) मध्य में मोनख्मेर। मुण्डा या कोल भाषाएँ भारत में अनेक स्थानों पर बोली जाती हैं। इनमें मुण्डा तथा संथाली प्रमुख भाषाएँ हैं।

१८. अमरीकी परिवार—ये भाषाएँ-अमरीका में बोली जाती हैं, जिनकी संख्या एक हजार के लगभग हैं। इस परिवार की भाषाओं का अध्ययन अभी

तक भली-भाँति नहीं हुआ है, अतः इनका वर्गीकरण भी नहीं हो पाया है। भौगोलिक आधार पर इसके तीन भेद किये जा सकते हैं—

(१) **कनाडा तथा संयुक्त राज्य**—इसमें अथवस्की या अथवस्कन, अलगोनकी, होका, सिउई तथा येरोक्वा भाषाएँ हैं।

(२) **मैक्सिको तथा मध्य अमरीकी**—इसमें अन्तेक, मय तथा बहुअल्ल भाषाएँ है।

(३) **दक्षिण अमरीकी**—इसमें 'अवरक' चिवाचा, तुपी-गुअर्नी, गरीब तथा कुइचुआ आदि भाषाएँ हैं। ग्रीकलैण्ड की एस्किमो भाषा भी इसी परिवार की है। इस परिवार की भाषाएँ भी प्रश्लिष्ट-योगात्मक हैं।

(११) **प्रश्न**—भारोपीय परिवार का परिचय देते हुए उसके विभिन्न वर्गों का परिचय दीजिए।

(अथवा)

भारोपीय परिवार के वर्गों का परिचय देते हुए उनकी प्रमुख विशेषताओं का स्पष्टीकरण कीजिए।

उत्तर—संसार के भाषा-परिवारों में भारोपीय परिवार सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण परिवार है तथा विवेचन-विश्लेषण की दृष्टि से भी इन परिवारों की भाषाएँ सबसे आगे हैं। इस परिवार के महत्त्व पाने के भी कई कारण हैं। इस परिवार की भाषाओं को बोलने वालों की संख्या सबसे अधिक है। व्यापकता की दृष्टि से इस परिवार की भाषाएँ आज सारे विश्व में बोली जाती है। सभ्यता और संस्कृति में भी ये भाषा-भाषी सबसे आगे हैं। साहित्य एवं वैज्ञानिक साहित्य की दृष्टि से इस परिवार की भाषाएँ विश्व में बेजोड़ हैं।

भारोपीय परिवार की भाषाओं का विकास जिस भाषा से हुआ है, उसे विद्वानों ने मूलभारोपीय भाषा नाम दिया है। इसका काल २४०० ई० पू० से १९०० ई० पू० तक माना जाता है। यह सभी भारोपीय भाषाओं की जननी है। इसके स्वरूप और मूल स्थान के बारे में कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलते।

डॉ० मंगलदेव शास्त्री के अनुसार—'भारत-यूरोपीय (भारोपीय) भाषा-परिवार से आशय उन समस्त भाषाओं से हैं, जो उस प्राचीन भारत-यूरोपीय मूलभाषा से निकली हैं। 'भारत-यूरोपीय' शब्द के प्रयोग से ही अभिप्राय है

कि इस भाषा-परिवार के भारत से लेकर यूरोप तक के भौगोलिक विस्तार की ओर ध्यान दिलाया जा सके।'

इस परिवार के नामकरण के संबंध में भी काफी विवाद रहा है तथा समय-समय पर अनेक नाम आये हैं। सर्वप्रथम जर्मन विद्वानों ने इसे 'भारत-जर्मनिक' नाम से पुकारा, किन्तु यह नाम उपयुक्त नहीं है। क्योंकि इन देशों के अतिरिक्त इटली, फ्रांस, रुमानियाँ, पुर्तगाल आदि में भी ये भाषाएँ बोली जाती हैं। इसी प्रकार इण्डो-कैल्टिक नाम में भी केवल दो छोरों को छूने का प्रयास किया गया है। 'आर्य' परिवार भी हमारे मन्तव्य को व्यक्त करने में असमर्थ है। 'संस्कृति परिवार' नाम में संस्कृत का ही बोध होता है, अतः इसे भी मान्यता नहीं मिल पाई। 'काकेशियन परिवार' नाम दिया गया, जो प्रचलित न हो सका।

अन्त में 'भारोपीय-परिवार' नाम दिया गया, यह नाम भौगोलिक दृष्टि से अच्छा है, किन्तु इसमें दोष है। भारत की समस्त भाषाएँ इसके अन्तर्गत नहीं आती और यूरोप में भी अनेक भाषाएँ इस परिवार से बाहर की बोली जाती है। फिर भी इस नाम को काफी प्रसिद्धि प्राप्त हो चुकी है और इस नाम को मान्यता मिलने लगी है।

भारोपीय परिवार एक विशाल भाषा-परिवार है। इसका इतिहास बहुत प्राचीन काल से आरम्भ होकर आधुनिक काल तक फैला हुआ है। इस परिवार की भाषाओं के सुदीर्घ विकासक्रम को देखने से निम्न विशेषताएँ प्रकट होती हैं—

१. इस परिवार की भाषाएँ मूल रूप से श्लिष्ट-योगात्मक थीं।

२. इस परिवार की भाषाओं में प्रकृति+प्रत्यय अथवा अर्थतत्त्व+संबंधतत्त्व का योग बहिर्मुखी है।

३. प्रत्ययों के विषय में अनुमान किया जाता है कि कभी वे स्वतन्त्र सार्थक शब्द थे, किन्तु धीरे-धीरे ध्वनि-परिवर्तन के कारण घिसकर वर्तमान प्रत्ययों के रूप में अवशिष्ट रह गये हैं।

४. इस परिवार की भाषाएँ पहले संयोगात्मक थी, अब वियोगात्मक हो गई हैं।

५. इस परिवार की धातुएँ एकाक्षर हैं और उनमें कृत् तथा उनसे निष्पन्न शब्दों में तद्धित प्रत्यय जोड़कर शब्द तथा उनमें 'सुप्' प्रत्यय जोड़कर पद बनाये जाते हैं। क्रियापदों में कृत् तथा तिङ् प्रत्यय जुड़ते हैं।

६. इस परिवार में विभक्ति-प्रत्ययों की बहुलता है। अतः रूपों की संख्या अधिक थी।

७. मूलभाषा में तीन लिंग, तीन वचन और तीन पुरुष थे।

८. क्रिया के फल-भोक्ता के आधार पर दो पद थे—आत्मनेपद, परस्मैपद।

९. फल-भोक्ता स्वयं होने पर आत्मनेपद, फल-भोक्ता दूसरा होने पर परस्मैपद।

१०. सर्वनामों के रूपों में विविधता थी।

११. मूल भाषा में अपश्रुति का प्रयोग था।

१२. समास का प्रयोग होता था। समस्त पदों के बीच की विभक्तियों का लोप हो जाता था। संस्कृत में समास का प्रचार बहुत बढ़ा है।

१३. स्वर संगीतात्मक था। उदात्त आदि स्वरों से अर्थभेद होता था। जैसे—वेद में स्वरभेद से अर्थभेद होता है। ग्रीक में भी स्वरों का प्रयोग था। वर्तमान भाषाओं में संगीतात्मक स्वरों के स्थान पर बलाघात स्वरों का प्रयोग होने लगा है।

संक्षेप में भारोपीय परिवार की उपर्युक्त विशेषताओं का उल्लेख किया गया है, तथापि इस परिवार की अन्य विशेषताएँ भी हो सकती हैं।

भारोपीय शब्द भारत+यूरोपीय का संक्षिप्त रूप है। यह Indo-European का अनुवाद है। भारोपीय में भारतवर्ष से लेकर यूरोप तक फैली हुई भाषाओं का संग्रह है। इस परिवार की दस शाखाएँ हैं, जिन्हें दो वर्गों में रखा गया है। 'सतम्' और 'केन्तुम्'। इसका आधार विभिन्न भाषाओं में १०० के लिए पाये जाने वाले शब्दों से है।

इस वर्गीकरण का श्रेय अस्कोली नामक विद्वान् को है। जिन्होंने ही सर्वप्रथम १८७० ई० में विद्वानों के सम्मुख यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया था—

'मूल भारोपीय कण्ठ्य या कण्ठ्य-तालव्य स्पर्श क-वर्ग ध्वनियाँ, भारोपीय परिवार की कुछ भाषाओं (ग्रीक, लैटिन, इटैलियन, फ्रेंच आदि) में तो कण्ठ्य क-वर्ग के रूप में ही रहीं अर्थात् ज्यों की त्यों ही रही; किन्तु कुछ अन्य भाषाओं (अवेस्ता, संस्कृत, फारसी, रूसी आदि) में वे ऊष्म हो गईं

या संघर्षी (श्, स्, ज्) आदि ध्वनियों में परिवर्तित हो गईं। सारांश यह है कि मूल भारोपीय भाषा की 'क्' ध्वनि भारोपीय परिवार की कुछ भाषाओं में तो क् ही रही, किन्तु कुछ अन्य भाषाओं में वह 'स्' या 'श्' या 'ज' मे बदल गईं है।

अस्कोली के उपर्युक्त सिद्धान्त की परीक्षा करके 'वॉन ब्रैडके' नामक विद्वान् ने भारोपीय परिवार की भाषाओं को केन्तुम् तथा सतम् इन दो वर्गों में विभाजित कर दिया। यहाँ 'सतम्' शब्द अवेस्ता भाषा का है, जो अवेस्ता तथा उसके वर्ग की भाषाओं का प्रतिनिधित्व करता है। इसी प्रकार 'केन्तुम्' शब्द लैटिन का है, जो लैटिन तथा उसके वर्ग की सभी भाषाओं का प्रतिनिधित्व करता है। सतम् तथा केन्तुम् दोनों ही शब्द सौ के वाचक हैं। उदाहरणार्थ—

मूल भारोपीय शब्द Kmtom (क्मतोम् = शतम्)

शतम् (सतम् वर्ग)	केण्टुम् वर्ग
संस्कृत—शतम्	लैटिन—केण्टुम्
अवेस्ता—सतम्	ग्रीक—हेकटोन
फारसी—सद	केल्टिक (आयरिश)—केत्
हिन्दी—सौ	तोखारी—कन्ध
रूसी—स्तो	गाथिक—हुण्ड
लिथुआनियन—स्जिन्तास	जर्मन—हुण्डर्ट
	फ्रेंच—सं (= सेंट)
	इटालियन—केन्तो

भारोपीय परिवार को केण्टुम् और शतम् वर्ग के आधार पर निम्न प्रकार बाँटा गया है—

शतम्-वर्ग	कैण्टुम्-वर्ग
१. भारत–ईरानी (आर्य)	६. कैल्टिक
२. वाल्टो–स्लाविक	७. जर्मनिक (ट्यूटानिक)
३. आर्मीनी	८. इटालिक
४. अल्बानी (इलीरी)	९. हिट्टाइट
५. ग्रीक	१०. तोखारी

'केन्तुम्' तथा 'सतम्' वर्ग के क्रम से भारोपीय परिवार की भाषाओं का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत है—

(१) **इटैलिक (इतालवी)**—लैटिन से विकसित एक प्राचीन भाषा है, जो प्रसिद्ध रोम नगर तथा उसके आस-पास बोली जाती थी। इसमें सबसे प्राचीन लिखित सामग्री ई० पू० छठी शताब्दी की है। रोमन साम्राज्य के साथ ही साथ इसके बोलचाल वाले रूप का भी बहुत प्रसार हुआ। आधुनिक फ्रेंच, इतालवी, स्पेन, पुर्तगाली तथा रूमानी आदि का विकास बोलचाल की प्राचीन लैटिन से ही हुआ है। यूरोप की भाषाओं पर लैटिन भाषा का प्रभाव अत्यधिक है। लैटिन से विकसित सभी आधुनिक भाषाएँ पर्याप्त साहित्य-सम्पन्न तथा समर्थ हैं।

(२) **ग्रीक**—प्राचीन ग्रीक भाषा को विश्व की भाषाओं में अत्यधिक महत्त्व प्राप्त है। यह मूल भारोपीय भाषा के अत्यधिक समीप है। यूरोप की कला तथा संस्कृति इसी की देन है। महान् कवि होमर के प्रसिद्ध महाकाव्य इलियड तथा ओडिसी, जो १००० ई० पू० के कहे जाते हैं, वे भी इसी भाषा में हैं।

प्राचीनकाल से ही ग्रीक की अनेक बोलियाँ थी, जिनमें एटिक तथा डोरिया प्रमुख थीं। ई० पू० चौथी शताब्दी में एटिक अधिक प्रचलित होकर जनभाषा बन गई। इससे आधुनिक ग्रीक का विकास हुआ है। प्राचीन ग्रीक भाषा में संगीतात्मक स्वराघात था, परन्तु आधुनिक ग्रीक में उसका स्थान बलात्मक स्वराघात ने ले लिया है।

(३) **जर्मनिक**—इसकी तीन उपशाखाएँ हैं—१. पूर्वी, २. उत्तरी तथा ३. पश्चिमी।

१. पूर्वीशाखा की प्रमुख भाषा गॉथी थी, जो अब मृत हो चुकी है। पादरी उलफितास (३११ ई० से ३८१ ई० तक) द्वारा अनूदित बाइबिल की गणना पूर्वी जर्मनिक शाखा के प्राचीनतम साहित्य में की जाती है। गॉथी संस्कृत से मिलती है।

२. उत्तरी उपशाखा में आइसलैंड की आइसलैंडी, डेन्मार्क की डेनी; नोर्वे की नारवेई तथा स्वीडन की स्वीडी आदि भाषाएँ आती हैं।

३. पश्चिमी उपशाखा के अन्तर्गत इङ्गलैंड की अंग्रेजी तथा जर्मनी की निम्न तथा उच्च जर्मन व हालैण्ड की डच और वेल्जियम की फ्लेमी भाषाएँ आती हैं।

जर्मनिक भाषाओं का विश्व की भाषाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान है। विज्ञान, साहित्य एवं दर्शन सभी इसमें पर्याप्त मात्रा में है। अंग्रेजी में ७०० ई० में रचित साहित्य उपलब्ध है। जर्मनिक भाषाएँ प्रारंभ में योगात्मक थी, किन्तु धीरे-धीरे अब अयोगात्मक हो गई हैं।

(४) **कैल्टिक**—लगभग दो हजार वर्ष पूर्व कैल्टिक भाषा सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोप में तथा मध्य यूरोप में प्रचलित थी, बाद में रोमनों के प्रभुत्व बढ़ने पर कैल्टिक जाति के साथ भाषा का भी ह्रास हो गया। स्कॉटलैण्ड की स्कॉच, आयरलैण्ड की आयरिश, वेल्स प्रदेश की वेल्श तथा उत्तर-पश्चिमी फ्राँस स्थित ब्रिटेनी प्रदेश की ब्रटेन कैल्टिक शाखा की ही भाषाएँ हैं।

(५) **हित्ती**—सन् १९०६–७ ई० में तुर्की के बोगाजकोई नामक स्थान पर हित्ती भाषा के कीलाक्षर अभिलेखों से ही इस भाषा का पता चला है। इन्हें भारोपीय परिवार के प्राचीनतम अभिलेखों में माना जाता है, जिनका काल १९०० ई० पू० से १६५० ई० पू० तक है। विद्वानों का मत है कि हित्ती तथा तोखारी ये ही दोनों भाषाएँ है, जो सबसे पहले भारोपीय परिवार से पृथक् हुई थी। यही कारण है स्टर्टवाण्ट आदि विद्वान् भारोपीय परिवार को भारत-हित्ती कहना अधिक उपयुक्त मानते हैं।

(६) **तुखारी**—हित्ती शाखा की भाँति ही तुखारी शाखा का पता भी बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही लगा है। इसका क्षेत्र मध्य-एशिया में ७वीं शताब्दी ई० पू० से दूसरी शताब्दी ई० पू० तक था। इसमें बहुत-सी पाण्डु-लिपियाँ प्राप्त हुई है, जिनकी लिपि प्राचीन भारतीय लिपि है।

(७) **आर्य (भारत-ईरानी)**—इस शाखा के भाषा-भाषी स्वयं को आर्य-जातीय कहते हैं। अतः आर्य जाति के नाम पर उनकी भाषा को भी आर्य-भाषा कहा जाता है। इसकी दो प्रमुख उपशाखाएँ हैं—भारतीय, ईरानी।

भारतीय उपशाखा में प्राचीनकाल से आधुनिक काल तक की सभी भारतीय आर्यभाषाएँ आती हैं। इसको तीन कालों में विभक्त किया गया है।

(क) **प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएँ (२००० ई० पू० से ४०० ई० पू० तक)**—इसमें वैदिक तथा संस्कृत आती हैं ऋग्वेदादि संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों की भाषा यही है। रामायण, महाभारत तथा बाद के संस्कृत कवियों की रचनाएँ भी इसी में हैं।

(ख) **मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएँ (५०० ई० पू० से १००० ई० तक)**—इसमें अनेक जन-भाषाएँ, जिन्हें प्राकृत कहा गया है, उदाहरण के लिए प्रथम प्राकृत या प्राचीन प्राकृत, इसका काल ५०० ई० पू० से ईस्वी सन् के आरम्भ होने तक माना जाता है। इसे ही 'पालि' कहा गया है। इसमें बौद्ध धर्म के ग्रन्थ तथा सम्राट् अशोक के अभिलेख मिलते हैं।

द्वितीय प्राकृत का काल ५०० ई० तक माना जाता है। जैन प्राकृत तथा साहित्यिक प्राकृतें (मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी तथा पैशाची) इसी के अन्तर्गत हैं। तृतीय प्राकृत या अपभ्रंश का काल ५०० ई० सन् से १००० ई० सन् तक है। इसका परिचय हेमचन्द्र (१२वीं शताब्दी) के व्याकरण ग्रन्थ से मिलता है। यह अपभ्रंश ही आधुनिक आर्यभाषाओं की जननी है।

(ग) **आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ (१००० ई० सन् से वर्तमान काल तक)**—अपने पूर्वकाल की अपभ्रंशों से ही इनका विकास हुआ है। भौगोलिक रूप से आधुनिक आर्यभाषाओं का वर्गीकरण निम्न रूप से किया जाता है—

१. **उत्तरी वर्ग**—जिसमें कश्मीरी, लहँदा, सिन्धी तथा पंजाबी है।
२. **पश्चिमी वर्ग**—जिसमें दो भाषाएँ—राजस्थानी तथा गुजराती है।
३. **मध्य वर्ग**—जिसमें पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी तथा पहाड़ी है।
४. **पूर्वी वर्ग**—जिसमें बिहारी, असमी, बंगला तथा उड़िया है।
५. **दक्षिणी वर्ग**—इसमें मराठी तथा सिंहली हैं।

उपर्युक्त भाषाओं के अतिरिक्त हबूड़ी तथा जिप्सी बोलियाँ भी आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में ही आती हैं।

ईरानी उपशाखा—इसके अन्तर्गत समस्त ईरान में बोली जाने वाली सभी ईरानी भाषाएँ आती हैं। इसे भी प्राचीन, मध्य और आधुनिक ईरानी तीन भागों में बाँटा गया है।

इस उपशाखा का प्राचीनतम ग्रन्थ अवेस्ता है। इसी के आधार पर

प्राचीन ईरानी भाषा को भी अवेस्ता कहा जाता है। यह भाषा ईरान के पूर्वी भाग में बोली जाती थी।

ईरान के पश्चिमी भाग में बोली जाने वाली भाषा को फारसी कहा जाता है। यही फारसी आगे चलकर मध्यकालीन फारसी या पहलवी तथा आधुनिक फारसी के रूप में विकसित हुई है। फिरदौसी का शाहनामा आधुनिक फारसी की प्रसिद्ध रचना है।

(८) बाल्टी एवं स्लावी—इस भाषा के दो उपवर्ग हैं। बाल्वी या बाल्टिक एवं स्लावी या स्लाविक।

(क) बाल्टी—इस उपवर्ग की भाषाएँ बाल्टिक सागर के तट पर बोली जाती है। इसमें दो भाषाएँ हैं—लिथुआनिया देश की लिथुआनी तथा लातनिया देश की लेत्ती। इन दोनों भाषाओं में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है। भारोपीय भाषा की अधिकांश विशेषताएँ आज भी इसमें देखने को मिलती हैं। यह भाषा अभी तक पूर्णतया श्लिष्ट है। वैदिक संस्कृत की भाँति ही इसमें भी द्विवचन विद्यमान है। संगीतात्मक स्वराघात के कारण भी यह वैदिक एवं ग्रीक भाषाओं की समानता रखती है।

(ख) स्लावी या स्लाविक—इस उपवर्ग में तीन शाखाएँ हैं—१. पूर्वी, २. दक्षिणी और ३. पश्चिमी।

पूर्वीवर्ग में महारूसी, श्वेतरूसी तथा लघुरूसी, ये तीन भाषाएँ है। श्वेत-रूसी रूस के पश्चिमी भाग में तथा लघुरूसी उक्राइन प्रदेश में बोली जाती है। इनका साहित्यिक महत्त्व नगण्य है। महारूसी या रूसी ही सोवियत संघ की राजभाषा या राष्ट्रभाषा है। इस भाषा का साहित्यिक विकास १८वीं शताब्दी से ही माना जाता है। तुर्गनेव, तालस्ताय, गोर्की आदि अनेक महान् साहित्य-कारों ने इस भाषा की श्रीवृद्धि की है।

दक्षिणी स्लावी में स्लोवेनी, सर्वो-क्रीती और बुल्गारी भाषाएँ हैं। स्लोवेनी युगोस्लाविया के दक्षिण में स्थित आद्रियातिक सागर के तट की बोली है और इसका साहित्यिक मूल्य नगण्य है। सर्वो-क्रीति युगोस्लाविया की भाषा है। स्लावी भाषाओं में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है तथा इसकी कई बोलियाँ भी हैं।

बुल्गारी—यह स्लावी उपवर्ग की सर्वप्राचीन भाषा है। इसी को चर्च-स्लावी भी कहा जाता है। ८वीं शताब्दी में इस भाषा में बाइबिल का

अनुवाद है। प्राचीन बुलगारी संस्कृत और ग्रीक से बहुत मिलती है। आधुनिक बुलगारी में ग्रीक, रुमानी, तुर्की एवं अल्बानी शब्दों का बहुतायत है।

(ग) **पश्चिमी स्लावी**—इसमें भी चेक, पोली और स्लोवाक्, तीन भाषाएँ प्रमुख हैं। पोली पोलैण्ड की भाषा है और इसमें १२वीं शताब्दी से साहित्य रचना हो रही है। चेक भाषा चेकोस्लाविया में बोली जाती है, स्लोवाक् इसी की विभाषा है।

इन भाषाओं की प्रमुख विशेषता यह है कि ये श्लिष्ट योगात्मक या विभक्ति प्रधान हैं। संस्कृत की भाँति इसमें भी शब्द रूप एवं धातुरूप बनते हैं। बलाघात इसकी प्रमुख विशेषता है।

(९) **अल्बानी**—यह अल्बानिया देश की भाषा है। ग्रीस में भी कुछ लोग इसे बोलते हैं। यह इलीरी भाषा की एकमात्र अवशिष्ट है। अपनी ध्वनियों एवं पदरचना में अत्यधिक परिवर्तन के कारण यह अन्य भारोपीय भाषाओं से नितान्त भिन्न प्रतीत होती है। इसमें स्लावी भाषा के शब्दों की भरमार है। १७वीं शताब्दी से इसमें लोक-गीत प्रधान साहित्य उपलब्ध होता है।

(१०) **आर्मीनी**—यह आर्मीनिया देश की भाषा है। इसमें ईरानी भाषा का बहुत प्रभाव है। प्राचीन आर्मीनी धार्मिक अवसरों पर आज भी प्रयुक्त होती है। इसमें कुछ ईसाई साहित्य एवं कीलाक्षर अभिलेख मिलते हैं। इसकी आधुनिक बोली स्तंबुल है, जो कुस्तुनतुनिया देश और कृष्ण सागर के तटों पर बोली जाती है।

(१२) प्रश्न—प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं का परिचय देते हुए उनकी प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—भारतीय आर्यभाषा का महत्त्व संसार की सभी भाषाओं में सर्वाधिक है। इस महत्त्व का श्रेय प्रमुखरूप से संस्कृत भाषा को है। विश्व की किसी भी प्राचीन भाषा का साहित्य इतना विस्तृत और प्रामाणिक नहीं है। इस वर्ग में वैदिक, बौद्ध और जैन, इन तीनों प्रमुख धर्मों का साहित्य उपलब्ध है। इस की प्राचीनतम भाषा, वैदिक भाषा का साहित्यिक ग्रन्थ 'ऋग्वेद' विश्व का प्राचीनतम साहित्य है।

अध्ययन की सुविधा के लिए भारतीय आर्यभाषा की पूरी शृङ्खला को तीन भागों में विभाजित किया जाता है—

१. प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएँ—१५०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक।

२. मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएँ—५०० ई० पू० से १००० ई० तक।

३. आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ—१००० ई० से अब तक।

इन तीनों का संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार से है—

प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएँ—इस वर्ग की भाषा के दो रूप उपलब्ध होते हैं—(क) वैदिक या वैदिक संस्कृत तथा (ख) संस्कृत या लौकिक संस्कृत।

(क) वैदिक या वैदिक संस्कृत—इसे वैदिक भाषा, वैदिकी, छान्दस या प्राचीन संस्कृत भी कहा जाता है। वैदिक भाषा का प्राचीनतम रूप ऋग्वेद में सुरक्षित है। ऋग्वेद में भी दूसरे मण्डल से नौवे मण्डल तक की भाषा सर्वाधिक प्राचीन है। यह अवेस्ता के अत्यधिक निकट है।

विद्वानों का विचार है कि वैदिक भाषा का जो रूप हमें आज वैदिक साहित्य में मिलता है, वह तत्कालीन साहित्यिक भाषा ही थी, न कि बोलचाल की भाषा।

वैदिक भाषा की ध्वनियाँ—वैदिक भाषा की ध्वनियाँ मूल भारोपीय ध्वनियों से कई बातों में भिन्न हैं—अ, ए, ओ के स्थान पर वैदिक में केवल एक 'अ' ही मूल ह्रस्व स्वर शेष है।

मूल भारोपीय तीन मूल दीर्घ स्वरों आ, एँ, ओँ के स्थान पर वैदिक में केवल एक 'आ' ही मूल दीर्घ स्वर शेष है।

मूल भारोपीय में प्राप्त न्, म् अन्तःस्थ ध्वनियों का वैदिक में लोप हो गया है। मूल भारोपीय में तीन क-वर्ग ध्वनियों के स्थान पर एक ही क-वर्ग (क् ख् ग् घ्) ध्वनियाँ है। मूल भारोपीय में च-वर्ग तथा ट-वर्ग का अभाव था, जब कि वैदिक ध्वनियों में ये ध्वनियाँ उपलब्ध हैं।

इस प्रकार वैदिक ध्वनि-समूह में निम्नलिखित ध्वनियाँ हैं—

मूलस्वर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ए, ओ।	=	११
संयुक्तस्वर—ऐ, औ	=	२
कण्ठ्य—क्, ख्, ग्, घ्, ङ् (क-वर्ग)	=	५
तालव्य—च् छ्, ज्, झ्, ञ् (च-वर्ग)	=	५
मूर्धन्य—ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण् (ट-वर्ग)	=	५
दन्त्य—त्, थ्, द्, ध्, न् (त-वर्ग)	=	५

ओष्ठ्य—प्, फ्, ब्, भ्, म् (प-वर्ग)	=	५
दन्तोष्ठ्य—व्	=	१
अन्त:स्थ—य्, र्, ल्, व्	=	४
शुद्ध अनुनासिक—अनुस्वार (ं)	=	१
संघर्षी—श्, ष्, स्, ह्, ≍ जिह्वामूलीय (क् ख् से पूर्व अर्द्ध-विसर्ग सदृश एवं ≍ उपध्मानीय (प्, फ् से पूर्व अर्द्ध-विसर्ग सदृश)	=	६
	कुल	५२

विशेषताएँ—१. वैदिक भाषा में स्वरों के ह्रस्व और दीर्घ उच्चारण के साथ ही उनका प्लुत उच्चारण भी होता है।

२. वैदिक भाषा में ऌ का प्रयोग अत्यधिक मात्रा में हुआ है।

३. इसमें संगीतात्मक स्वराघात का बहुत महत्त्व है। ४. इसमें तीन स्वर हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। ५. स्वर-परिवर्तन से शब्दों का अर्थ भी बदल जाता है।

६. वैदिक भाषा में व्यंजन ध्वनियों में ळ् और ळ्ह् दो ऐसी ध्वनियाँ हैं, जो अन्य भाषाओं से पृथक् करती है। जैसे—इळा, अग्निमीळे आदि।

७. शब्दरूपों में पर्याप्त अनेकरूपता मिलती है। उदाहरण के लिए प्रथमा विभक्ति, द्विवचन 'देवा' और देवौ', तृतीया विभक्ति बहुवचन में 'देवै:' और 'देवेभि:' दो-दो रूप मिलते हैं। यही विशेषता धातुरूपों में भी उपलब्ध होती है। एक ही 'कृ' धातु के लट् लकार प्रथमपुरुष में कृणोति, कृणुते, करोति, कुरुते, करति अनेक रूप मिलते हैं।

८. धातुओं से एक ही अर्थ में अनेक प्रत्यय लगते हैं। जैसे—एक ही तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में तुमुन्, से, सेन, असे, असेन्, कसे, कसेन्, अध्यै, अध्यैन, कध्यै, कध्यैन आदि १६ प्रत्यय मिलते हैं।

९. उपसर्गों का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से होता था।

१०. वैदिक संस्कृत में मध्य स्वरागम या स्वरभक्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे—पृथ्वी>पृथिवी, स्वर्ण>सुवर्ण, स्वर>सुवर आदि।

११. लौकिक संस्कृत में शब्दरूपों, धातुरूपों एवं प्रत्ययों की विविधता

कम हो गई और काल, पुरुष, वचन, लिंग आदि के ऐच्छिक परिवर्तन प्रायः समाप्त हो गये।

(ख) **लौकिक संस्कृत या संस्कृत**—प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का दूसरा रूप संस्कृत है। इसी को लौकिक संस्कृत या क्लासिकल संस्कृत भी कहा जाता है। यूरोप में जो स्थान लैटिन का है, भारत में वही स्थान संस्कृत का है। महाभारत, पुराण, काव्य, नाटक आदि ग्रन्थ ५०० ई० पूर्व से आजतक अविच्छिन्न रूप से अपना गौरव स्थापित किये हुए हैं। यास्क, कात्यायन, पतंजलि आदि के लेखों से सिद्ध है कि ईसा पूर्व तक संस्कृत लोक-व्यवहार की भाषा थी।

संस्कृत साहित्य आर्य-जाति का प्राण है। संस्कृत में ही समस्त प्राचीन ज्ञान, विज्ञान, कला, पुराण, काव्य, नाटक आदि हैं। संस्कृत ने न केवल भारतीय भाषाओं को अनुप्राणित किया है, अपितु विश्वभाषाओं, मुख्यतया भारोपीय भाषाओं को भी प्रभावित किया है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से संस्कृत का बहुत अधिक महत्त्व है। संस्कृत के अध्ययन के कारण ही यूरोप में आधुनिक युग में तुलनात्मक भाषाविज्ञान का प्रारम्भ हुआ।

लगभग ई० पू० ५वीं शताब्दी या ७वीं शताब्दी में पाणिनी ने संस्कृत की उस साधारणभूत भाषा को व्याकरण के नियमों से बद्ध करके एकरूपता प्रदान की और यह भाषा 'संस्कृत' कहलाने लगी।

संस्कृत की ध्वनियाँ—वैदिक भाषा में ५२ ध्वनियाँ थीं, जब कि आज संस्कृत में ध्वनियों की संख्या ४८ है। अर्थात् वैदिक भाषा की ळ्, ळ्ह्, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय संस्कृत में नहीं मिलती हैं।

अनेक ध्वनियों के उच्चारण में परिवर्तन भी मिलता है। वैदिक ह्रस्व और दीर्घ 'ग्वुं' ध्वनि संस्कृत में नहीं रही।

भाषाशास्त्रियों ने नासिक्य ५ ध्वनियों में से केवल तीन ण्, न्, म् को नासिक्य स्वनिम माना है; और ङ्, ञ् को स्वनांग। संस्कृत में प्राङ्, दध्यङ् आदि रूप हैं। अतः ङ् को स्वनिम मानना आवश्यक है।

भाषाशास्त्री ऋ, ॠ, ऌ को स्वतन्त्र नहीं मानते, अपितु र और ल का स्वतन्त्र रूप मानते हैं।

वैदिक संस्कृत में अनुस्वार शुद्ध नासिक्य ध्वनि था। संस्कृत में इसके दो रूप हो गये हैं—अनुस्वार और अनुनासिक। अनुस्वार (ं) की स्वतन्त्र

सत्ता है। यह नासिक्य ध्वनि है। अनुनासिक (ँ) अस्वतन्त्र है। पूर्ववर्ती स्वर से मिलकर इसका अनुनासिक उच्चारण होता है।

संस्कृत भाषा की विशेषताएँ—वैदिक संस्कृत का ही विकसित रूप लौकिक संस्कृत है। वैदिक संस्कृत में जो विविधता और अनेकरूपता पाई जाती थी, वह संस्कृत में न्यून हो गई। पाणिनि के व्याकरण का प्रभाव बहुत बढ़ गया। फलस्वरूप पाणिनी के व्याकरण से असिद्ध रूपों का प्रचलन कम हो गया। शब्दरूपादि में संक्षेप और परिष्कार आ गया। अपवाद-नियमों की संख्या कम हो गई। कुछ विशेषताएँ निम्न हैं—

१. शब्दरूपों और धातुरूपों में वैकल्पिक रूपों की न्यूनता हो गई।

२. सन्धि-नियमों की अनिवार्यता हो गई।

३. लेट् लकार का अभाव हो गया।

४. भाषा में स्वरों का प्रयोग समाप्त हो गया।

५. कृत् प्रत्ययों आदि में अनेक प्रत्ययों के स्थान पर एक प्रत्यय प्रयुक्त होने लगे।

६. शब्दकोश में पर्याप्त अन्तर हो गया। प्राचीन इम्, सीम् आदि निपात लुप्त हो गये। वैदिक शब्दों के अर्थ में भी अन्तर हो गया। जैसे—असुर वै० शक्तिशाली, सं० दैत्य।

७. संगीतात्मक स्वर के स्थान पर बलात्मक स्वर का प्रयोग होने लगा।

८. उपसर्गों का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं रहा।

(१३) प्रश्न—वैदिक एवं लौकिक संस्कृत में क्या अन्तर है? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—वैदिक और लौकिक संस्कृत की समानताएँ एवं विषमताएँ इस प्रकार है—

समानताएँ—

१. दोनों श्लिष्ट योगात्मक हैं।

२. दोनों में प्रायः सभी शब्द धातुज हैं। रूढ़ शब्दों की संख्या कम है।

३. पद-निर्माण की विधि प्रायः एक ही है। सुप्, तिङ्, कृत्, तद्धित आदि प्रत्यय समान हैं।

४. धातुओं का गणों में विभाजन, णिच्, सन् आदि प्रत्यय समान हैं।

५. समास-विधि दोनों में है।

६. धातुओं और शब्दों के अर्थ प्रायः एक ही है।

७. दोनों में तीन-तीन लिंग, वचन, पुरुष हैं ।

८. वाक्यरचना शब्दों से नहीं, अपितु पदों से ही होती है ।

९. दोनों के वाक्य में पद-क्रम (शब्दों का स्थान) निश्चित नहीं है ।

१०. दोनों में संधिकार्य होते हैं ।

११. दोनों में कारक एवं विभक्तियाँ हैं ।

विषमताएँ—

वैदिक संस्कृत	लौकिक संस्कृत
१. ध्वनियों में ळ्, ळह्, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय हैं ।	१. ये ध्वनियाँ नहीं रही ।
२. ऌ स्वर का प्रयोग था ।	२. ऌ स्वर लुप्तप्राय है ।
३. उदात्त आदि स्वरों का प्रयोग था ।	३. इनका प्रयोग नहीं रहा ।
४. स्वर प्रयोग संगीतात्मक था ।	४. स्वर प्रयोग बलाघातात्मक है ।
५. ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत स्वर थे ।	५. प्लुत प्रायः लुप्त हो गया ।
६. शब्दरूपों में बहुत विविधता थी ।	६. विविधता बहुत कम हो गई ।
७. धातुरूपों में बहुत विविधता थी ।	७. विविधता प्रायः समाप्त हो गई ।
८. लकारों में लेट् लकार था ।	८. यह संस्कृत में नहीं रहा ।
९. परस्मैपद आत्मनेपदों में परिवर्तन होता था ।	९. पद-परिवर्तन निर्धारित नियमानुसार ही होता है ।
१०. पुरुष, वचन, विकरण, लकार आदि में परिवर्तन होता था ।	१०. ये परिवर्तन निषिद्ध हो गये ।
११. लङ्, लुङ् आदि में अट् का आगम अनिवार्य नहीं था ।	११. अट् का आगम इन लकारों में आवश्यक है ।
१२. तुमुन्, क्त्वा आदि शब्दों में अनेक प्रत्यय हैं ।	१२. तुम्, क्त्वा, ल्यप्, णमुल् आदि थोड़े प्रत्यय शेष रह गये हैं ।
१३. सन्धि-नियम ऐच्छिक थे ।	१३. सन्धि-नियम आवश्यक हैं ।
१४. उपसर्ग स्वतन्त्र भी थे ।	१४. उपसर्ग स्वतन्त्र नहीं रहे ।
१५. ईम, सीम्, वै आदि निपात थे ।	१५. ये निपात नहीं रहे ।
१६. अक्तु, अर्जुनी, श्वेत्या, गातु, ग्मा, ज्मा आदि शब्द थे ।	१६. वे वैदिक शब्द लुप्त हो गये ।

१७. अच्, अम्, क्षद्, जिन्व्, ध्रज् आदि धातुएँ भी थीं।	१७. ये धातुएँ अप्रयुक्त हो गईं।
१८. पत्, सह् आदि धातुओं तथा न, असुर, अराति शब्दों का अर्थ संस्कृत से भिन्न है।	१८. अनेक अर्थों में अन्तर हुआ।
१९. तर, तम, प्रत्यय संज्ञा-शब्दों से भी होते थे। वृत्रतरः आदि।	१९. तर, तम प्रत्यय विशेषण शब्दों से ही होते हैं।
२०. छन्दःपूर्ति के लिए स्वरभक्ति का प्रयोग होता था। स्वर-सुवर्, पृथ्वी-पृथिवी, इन्द्र-इन्दर	२०. स्वरभक्ति का प्रयोग नहीं होता।

उपर्युक्त तुलना करने से ज्ञात होता है कि वैदिक भाषा की अपेक्षा संस्कृत भाषा अधिक नियमित एवं व्यवस्थित हो गई तथा वैदिक भाषा की अपेक्षा संस्कृत के स्वरूप में पर्याप्त परिवर्तन हो गया। इस प्रकार वैदिक तथा संस्कृत में कुछ समानताओं के साथ ही साथ अनेक विषमताएँ भी हैं।

(१४) **प्रश्न**—मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं का परिचय देते हुए उनकी प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तर—इनका काल ५०० ई० पू० से १००० ई० तक माना जाता है। इस पूरे काल की भाषा को सामान्य रूप से 'प्राकृत' कहा गया है। इस प्राकृत को पुनः तीन भागों में विभाजित किया जाता है—

१. **प्राचीन प्राकृत या पालि** (५०० ई० पू० से लेकर ईस्वी सन् के आरम्भ तक)।

२. **मध्यकालीन प्राकृत** (ई० सन् के आरम्भ से ५०० ई० तक)।

३. **परकालीन प्राकृत या अपभ्रंश** (५०० ई० से लेकर १००० तक)।

प्राचीन प्राकृत या पालि (प्रथम प्राकृत)

प्राचीन प्राकृत में इनका समावेश है—तृतीय शताब्दी ई० पू० से प्रथम शती ई० तक के शिलालेख, पालि बौद्धग्रन्थ—महावंश, जातक आदि प्राचीन जैनसूत्रों की भाषा, प्रारम्भिक नाटकों की भाषा, जैसे-अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत, जिसके अवशेष मध्य एशिया में पाये गये हैं। इसे प्रथम प्राकृत भी कहते हैं।

प्राकृत का अर्थ—प्राकृत शब्द की उत्पत्ति को लेकर निम्न मत प्रस्तुत किये गये हैं—

(१) **प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से**—प्राकृत भाषा के सभी प्राचीन वैयाकरणों ने प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से मानी है। प्रकृति का अर्थ है—मूलभाषा संस्कृत, उससे उत्पन्न भाषा प्राकृत है। हेमचन्द्र आदि का यही विचार है—

१. प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम् (हेमचन्द्र)।

२. प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं प्राकृतमुच्यते (प्राकृतसर्वस्व)।

३. प्राकृतस्य तु स्वमेव संस्कृतं योनिः (प्राकृत-संजीवनी)।

(२) **प्राकृत प्राचीन जनभाषा है**—प्राकृत प्राचीन जनभाषा है। 'प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्'। प्राकृत का ही परिष्कृत रूप संस्कृत भाषा है। अर्थात् प्राकृत से संस्कृत निकलती है। पाश्चात्य विद्वान् इस मत के प्रतिपादक हैं।

(३) **प्राकृत और संस्कृत की स्वतन्त्र परम्परा**—कतिपय विद्वान् इन दोनों भाषाओं की स्वतन्त्र परम्पराएँ मानते हैं।

निष्कर्ष—वस्तुतः संस्कृत का ही विकृत रूप प्राकृत है। पाणिनि आदि द्वारा परिष्कृत संस्कृत भाषा रूढ़ और नियम-निगदित हो गई, अतः इसमें परिवर्तन-परिवर्धन सम्भव नहीं था। इससे किसी भाषा की उत्पत्ति नहीं हो सकती। ईसा पूर्व तक संस्कृत जनभाषा और लोक-व्यवहार की भाषा थी। इसके दो रूप थे—(१) साहित्यिक और (२) जनभाषा। साहित्यिक भाषा व्याकरण के नियमों में बँध कर स्थिर हो गई, परन्तु जनभाषा वाली संस्कृत स्वाभाविक रूप से प्रचलित रही। इसमें ध्वनि-भेद, शब्द-भेद आदि प्रचुर मात्रा में चलते रहे। यही संस्कृत भाषा विकसित होते हुए प्राकृत के रूप में प्रसिद्ध हुई।

पालि की व्युत्पत्ति—पालि शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में भी अनेक मत प्रस्तुत किये गये हैं। जिनमें प्रमुख मत इस प्रकार हैं—

१. आचार्य बुद्धघोष और आचार्य धम्मपाल ने 'पालि' शब्द का प्रयोग बहुवचन या मूल त्रिपिटक के लिए किया है। उससे यह शब्द पालि भाषा के लिए आया।

२. आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य ने 'पंक्ति' से 'पालि' की उत्पत्ति इस प्रकार बतलाई है—पंक्ति>पंति>पत्ति>पलि>पालि।

३. भिक्षु सिद्धार्थ ने 'पाठ' से पालि की उत्पत्ति मानी है। पाठ>पाळ>पाळि>पालि।

४. भिक्षु जगदीश काश्यप ने परियाय (बुद्धोपदेश) शब्द से पालि की उत्पत्ति मानी है। परियाय>पलियाय>पालियाय>पालि।

५. अभिधानप्पदीपिका (पालिभाषा-कोशग्रन्थ) ने पा धातु से पालि शब्द माना है। पा—पालेति रक्खतीति पालि, जो रक्षा करती है या पालन करती है।

६. अमरकोश के टीकाकार भानुजी दीक्षित ने 'पाल रक्षणे' से पालि शब्द माना है। पाल्+इ=पालि।

इन मतों में भिक्षु जगदीश काश्यप का मत अधिक लोकप्रिय है। परियाय>पलियाय>पालि शब्द बुद्धवचन या मूल त्रिपिटक के लिए प्रयुक्त होने लगा।

पालि की प्रमुख विशेषताएँ—

१. पालि में वैदिक संस्कृत की ५ स्वर-ध्वनियाँ लुप्त हो गईं—ऋ, ॠ, ऌ, ऐ, औ।

२. पालि में वैदिक संस्कृत के ५ व्यंजन लुप्त हो गये—श, ष, विसर्ग (:), जिह्वामूलीय, उपध्मानीय।

३. पालि में दो नये स्वर आ गये—ह्रस्व ऍ, ह्रस्व ऑ।

४. पालि में वै० सं० के दो व्यंजन ळ्, ळह् मिलते हैं।

५. पालि में संस्कृत के ऐ–ए, औ–ओ हो गये हैं।

६. पालि में संयुक्त वर्ण से पूर्ववर्ती दीर्घ को ह्रस्व हो जाता है अर्थात् यदि दीर्घ स्वर होगा, तो संयुक्त व्यञ्जन में से एक का लोप हो जाएगा। जीर्ण–जिण्ण, दीर्घ–दीघ।

७. अघोष वर्ण घोष हो जाता है। क>ग्, प्रतिकृत्य>पटिगच्च, च् को ज्—सुच>सुजा।

८. ड, ढ को ळ, ळह्, बडवा>वळवा।

९. सन्धियों में केवल तीन सन्धियाँ है—१. स्वरसन्धि, २. व्यञ्जनसन्धि तथा ३. निग्गहीत (अनुस्वार) सन्धि। विसर्गसन्धि आदि नही हैं।

१०. पालि में हलन्त शब्द नहीं हैं, केवल अजन्त ही हैं। हलन्त शब्दों

को अकारान्त बना देते हैं या अन्तिम व्यञ्जन का लोप कर देते हैं । धनवत्> धनवन्त, आतमन>अत्त ।

११. पालि में द्विवचन नहीं होता है ।

१२. शब्दरूपों में चतुर्थी व षष्ठी के रूप समान होते हैं ।

१३. स्त्री-प्रत्यय सात हैं—आ, ई, इनी, नी, आनी, ऊ, ति । अजा, कुमारी, पक्खिनी, दण्डिनी, मातुलानी, वामोरू, युवति ।

१४. पालि में ५०० से अधिक धातुएँ तथा ९ गण हैं । अदादि और जुहोत्यादि नहीं हैं ।

१५. पालि में लेट् लकार वाले रूप भी मिलते हैं—हनासि, दहासि ।

१६. आत्मनेपद का प्रयोग प्रायः लुप्त हो गया । परस्मैपद शेष रहा ।

१७. दोनों प्रकार का स्वराघात था—संगीतात्मक और बलाघातात्मक ।

१८. पालि में तद्भव शब्दों का आधिक्य है । तत्सम और देशज कम है ।

शिलालेखी प्राकृत—प्राचीन प्राकृत के अन्तर्गत अशोक के शिलालेखों की प्राकृत भी आती है । इसको अशोकन प्राकृत, लाट प्राकृत भी कहते हैं । कुछ ध्वनियों में थोड़ा-बहुत प्राचीन पालि से परिवर्तन है । शेष सभी विशेषताएँ पालि की भाँति ही हैं ।

मध्यकालीन प्राकृत (द्वितीय प्राकृत)

इसे साहित्यिक प्राकृत भी कहते हैं । इस काल में प्राकृत का विकसित साहित्यक रूप प्राप्त होता है । इस काल में प्राकृत के विभिन्न रूप हो गये । इनका समय ईसवी प्रथम शताब्दी से ईसवी ५वीं शताब्दी तक है । धर्म, साहित्य तथा भाषाविज्ञान के आधार पर 'प्राकृत' के अनेक भेद किये गये हैं—

१. धर्म के आधार पर इसके ४ भेद हैं—१. पालि, २. अर्धभागधी, ३. जैन महाराष्ट्री और ४. जैन शौरसेनी ।

२. साहित्य के आधार पर भी इसके चार भेद है—१. महाराष्ट्री, २. शौरसेनी, ३. मागधी और ४. पैशाची ।

३. भाषा विज्ञान के आधार पर—प्राकृत वैयाकरणों आदि के दिये गये नामों की संख्या २०-२५ है, किन्तु भाषाविज्ञान की दृष्टि से प्राकृत के निम्न पाँच रूप मान्य हैं—

१. मागधी, **२.** अर्धमागधी, ३. महाराष्ट्री, ४. शौरसेनी और ५. पैशाची ।

(१) **मागधी प्राकृत**—इसका विकास मगध की निकटवर्ती भाषा से है। इसमें रचित कोई साहित्यिक रचना उपलब्ध नहीं होती। संस्कृत के नाटकों में इसका प्रयोग निम्न श्रेणी के पात्रों द्वारा किया गया है। यह अश्वघोष की रचनाओं में प्रमुख रूप से देखी जाती है। इसकी विशेषताएँ निम्न हैं—

१. 'स' तथा ष् के स्थान पर श् ही मिलता है। जैसे—सप्त>शत्त, पुरुष>पुलिश।

२. र् के स्थान पर सर्वत्र ल् मिलता है–पुरुष>पुलिश, राजा>लाजा।

३. स् तथा र् से संयुक्त थ् (स्थ, र्थ) स्त हो जाता है—उपस्थित> उवस्तिद्, अर्थ–अस्त आदि।

४. संयुक्त व्यंजन में यदि प्रथम ध्वनि ऊष्म हो, तो समीकरण नहीं होता, जैसे—हस्त–हश्त।

(२) **अर्धमागधी प्राकृत**—यह मगध तथा शूरसेन प्रदेशों के मध्यक्षेत्र (प्राचीन कोशल प्रदेश) की बोली से विकसित भाषा है। इसमें मागधी प्राकृत की भी कुछ प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। अतः इसे अर्द्धमागधी कहा गया है। जैन साहित्य की यही प्रमुख भाषा है। संस्कृत नाटकों मुद्राराक्षस, प्रबोधचन्द्रोदय आदि में भी इसका प्रयोग मिलता है। आचार्य विश्वनाथ ने इसे चरों, सेठों तथा राजपुत्रों की भाषा कहा है। कुछ विद्वान् इसे अशोक के शिलालेखों की ही भाषा मानते हैं, जिसमें स्थानीय पुट मिला हुआ है। अर्द्धमागधी की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

१. श् तथा ष् के स्थान पर स् हो जाता है। जैसे—श्रावक>सावग।

२. दन्त्य त-वर्ग ध्वनियों के स्थान पर मूर्धन्य ट-वर्ग ध्वनियाँ पायी जाती हैं—कृत्वा>कट्टु तथा स्थित>ठिय आदि।

३. कहीं-कहीं 'च्' के स्थान पर त् ध्वनि मिलती है जैसे—चिकित्सा> तेइच्छा।

४. स्वरों के मध्य लुप्त व्यञ्जन के स्थान पर य् श्रुति मिलती है। जैसे—सागर>सायर, गगन>गयन आदि।

(३) **महाराष्ट्री प्राकृत**—इसका मूल आधार महाराष्ट्र प्रदेश है। कुछ लोग महा+राष्ट्र से तात्पर्य सम्पूर्ण भारत से लेते हैं और इसे तत्कालीन भारत की राष्ट्रभाषा मानते हैं। यह काव्य की भाषा थी। अतः इसमें प्रचुर साहित्य मिलता है। गद्यरूप में इसका प्रयोग श्वेताम्बर जैनियों के धार्मिक ग्रन्थों में मिलता है। कालिदास, हर्ष आदि के नाटकों में गीतों की भाषा यही है।

महाराष्ट्री प्राकृत सभी प्राकृतों में एक परिनिष्ठित भाषा मानी जाती है। इसी को आधार मानकर सभी प्राकृत व्याकरण लिखे गये हैं। इसकी प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१. महाराष्ट्री प्राकृत में दो स्वरों के मध्यवर्ती अल्पप्राण स्पर्शों—क्, त्, प्, ग्, द्, ब् आदि का प्राय: लोप हो जाता है। जैसे—नुपुर>णेउर, प्राकृत>पाअड, लोको>लोओ, गच्छति>गच्छइ आदि। यह स्वरप्रधान भाषा हो गई है।

२. दो स्वरों की मध्यवर्ती महाप्राण ध्वनियों (ख्, थ्, फ्, घ्, ध्, भ्) के स्थान पर केवल ह् रह जाता है। जैसे—शाखा>शाहा, नाथ>नाहो आदि।

३. ऊष्म ध्वनियों के स्थान पर भी प्राय: 'ह्' ध्वनि मिलती हैं। जैसे-पाषाण>पाहाण, दिवस>दिवह, दश>दह आदि।

४. कर्मवाच्य के गम्यते आदि रूपों के स्थान पर गानिज्जई रूप मिलता है अर्थात् 'य' के स्थान पर 'इज्ज' हो जाता है।

५. पूर्वकालिक क्रिया का प्रत्यय ऊण मिलता है। जैसे—संस्कृत पृष्ट्वा के स्थान पर पुच्छिऊण।

(४) **शौरसेनी प्राकृत**—यह शूरसेन (मथुरा) प्रदेश में विकसित बोली थी। इस पर संस्कृत का प्रभाव है, क्योंकि उस समय मध्य प्रदेश संस्कृत का केन्द्र था। संस्कृत नाटकों में गद्य इसी शौरसेनी प्राकृत में हैं। कर्पूरमञ्जरी का गद्यभाग इसी भाषा में रचित है। इसके अतिरिक्त दिगम्बर जैनों के धार्मिक ग्रन्थों में भी इसका प्रयोग हुआ है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१. दो स्वरों का मध्यवर्ती संस्कृत त्>द तथा थ>ध् हो जाता है। उदाहरणार्थ—भवति–होदि, कथय–कधोहि आदि।

२. दो स्वरों के मध्य द, ध ध्वनियाँ अपरिवर्तित ही रहती हैं। जैसे—जलद:–जलदो, क्रोध:–क्रोधो आदि।

३. 'क्ष' के स्थान पर 'क्ख' हो जाता है। जैसे—इक्षु का इक्खु हो जाता है।

(५) **पैशाची प्राकृत**—महाभारत में 'पिशाच' नाम की एक जाति का उल्लेख हुआ है, जिसकी निवासभूमि उत्तर-पश्चिम में कश्मीर के आसपास मानी गई है। इसी आधार पर ग्रियर्सन ने पैशाची को दरद भाषा से प्रभावित माना है। हार्नली के अनुसार यह द्रविड़ों की भाषा है। यह भाषा साहित्य-

शून्य है। हम्मीरमर्दन जैसे बहुत कम नाटकों में कुछ ही पात्रों ने इसका व्यवहार किया है। प्राकृतसर्वस्व में इसके ११ भेद किये गये हैं।

परकालीन प्राकृत या अपभ्रंश (तृतीय प्राकृत)

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की तृतीय प्राकृत-काल की भाषा अपभ्रंश कहलाती है। अपभ्रंश शब्द का अर्थ ही है—विकृत, भ्रष्ट या पतित। जब प्राकृत भाषाओं में साहित्य रचा जाने लगा और वे व्याकरणबद्ध हो गईं, तो धीरे-धीरे साहित्यिक प्राकृत और बोलचाल की प्राकृत भिन्न-भिन्न हो गईं। आगे चलकर स्वतन्त्ररूप से विकसित होती हुई, उसी बोलचाल की प्राकृत से अपभ्रंश भाषा का विकास हुआ और तत्कालीन प्राकृत-पण्डितों ने परिनिष्ठित प्राकृत की तुलना में इसे विकृत, बिगड़ा हुआ या अपने उच्च स्थान से भ्रष्ट हुआ माना। यह प्राकृतों तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं के मध्य की कड़ी है। आगे चलकर अपभ्रंश से ही आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का विकास हुआ।

अपभ्रंश का बिगड़े हुए शब्दरूप के अर्थ में प्रयोग सर्वप्रथम 'व्याडि' तथा 'पतञ्जलि' ने किया है। भाषा के अर्थ में इसका उल्लेख सर्वप्रथम छठी शताब्दी ई० में भामह ने अपने काव्यालङ्कार तथा चण्ड ने अपने 'प्राकृत-लक्षणम्' में किया है।

अपभ्रंश साहित्य के उल्लेखनीय ग्रन्थ रदूधूकृत 'करकंडचरिउ', धर्मसूरीकृत 'जम्बूस्वामीरासा', पुष्पदन्तकृत 'आदिपुराण', सरहकृत 'दोहाकोश', स्वयंभूकविकृत 'परमचरिउ', धनपालकृत 'भविस्सयंतकहा' आदि है।

अधिकांश विद्वानों के अनुसार इसका विकास सर्वप्रथम भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में हुआ, किन्तु इसके परिनिष्ठित रूप का विकास डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी मध्यप्रदेश की भाषा से तथा डॉ० बाबूराम सक्सेना मध्यप्रदेशीय शौरसेनी अपभ्रंश से मानते हैं।

अपभ्रंश के २ से लेकर २७ तक भेद किये गये है। संक्षेप में अपभ्रंश के निम्नलिखित ७ रूप हैं। जिनसे १३ आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास माना जाता है।

१. मागधी—	१. विहारी, २. बंगला, ३. उड़िया, ४. असमिया।
२. अर्द्धमागधी—	५. पूर्वी हिन्दी।
३. महाराष्ट्री—	६. मराठी।

४. खस—	७. पहाड़ी (इस पर शौरसेनी अपभ्रंश का और उसके नागर रूप से विकसित पुरानी राजस्थानी का प्रभाव है)।
५. ब्राचड़—	८. सिन्धी।
६. शौरसेनी—	९. पश्चिमी हिन्दी, १०. शौरसेनी, अपभ्रंश के नागररूप से विकसित--राजस्थानी तथा ११. गुजराती।
७. पैशाची—	१२. लहँदा और १३. पंजाबी (शौरसेनी अपभ्रंश से प्रभावित है)।

(१५) **प्रश्न**—आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर—आधुनिक आर्यभाषाओं का काल १००० ई० से लेकर वर्तमान काल तक माना जाता है। आधुनिक आर्यभाषाओं का विकास मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के तृतीय प्राकृत रूप या अपभ्रंश रूपों से हुआ है। प्राचीन पाँच प्राकृतों से पाँच अपभ्रंश भाषाओं का विकास हुआ है। इन पाँच अपभ्रंशों के साथ ही ब्राचड एवं खस दो अपभ्रंशों को और लिया जाता है। ब्राचड का उल्लेख मार्कण्डेय के प्राकृतसर्वस्व में अपभ्रंश के २७ भेदों में मिलता है। खस उत्तरी पहाडी भाग की भाषा थी। इस प्रकार सात अपभ्रंशों से आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास माना जाता है।

अपभ्रंश	**विकसित आधुनिक भाषाएँ**
१. शौरसेनी	(क) पश्चिमी हिन्दी, (ख) राजस्थानी और (ग) गुजराती।
२. महाराष्ट्री	मराठी।
३. मागधी	(क) बिहारी, (ख) बंगाली, (ग) उड़िया और (घ) असमी।
४. अर्धमागधी	पूर्वी हिन्दी।
५. पैशाची	लहँदा।
६. ब्राचड	(क) सिन्धी और (ख) पंजाबी।
७. खस	पहाड़ी।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का संक्षिप्त परिचय

१. पश्चिमी हिन्दी—इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। इसकी पाँच प्रमुख बोलियाँ है—खड़ीबोली, ब्रजभाषा, बाँगरु, कन्नौजी और बुन्देली।

(क) **खड़ी बोली**–यह उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों—मेरठ, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, देहरादून, बिजनौर, रामपुर आदि की भाषा है। अम्बाला और पटियाला के पूर्वीभाग भी इसी क्षेत्र में आते हैं। यह आजकल राजभाषा है। इसमें आकारान्त रूपों की प्रधानता है। साहित्यिक दृष्टि से इसके दो रूप हैं—हिन्दी तथा उर्दू। हिन्दी रूप तत्समप्रधान हैं, जब कि उर्दू में अरबी-फारसी के शब्दों की प्रधानता है तथा इसकी लिपि फारसी है।

(ख) **ब्रजभाषा**—यह मथुरा, आगरा, अलीगढ़, धौलपुर की भाषा है। इसके पश्चिमोत्तर भाग में राजस्थानी का और दक्षिणी भाग में बुन्देली का प्रभाव देखा जाता है। इसमें उच्चकोटि का साहित्य विद्यमान है। इसके प्रमुख साहित्यकार हैं—सूर, नन्ददास, मीरा, केशव, बिहारी, देव, भूषण, घनानन्द, रसखान, रहीम आदि। यह भाषा सरलता, सरसता एवं कोमलता के लिए विख्यात है।

(ग) **बाँगरू**—यह दिल्ली, करनाल, रोहतक, हिसार, पटियाला, जींद और नाभा की बोली है। हरियाणवीं, देसाड़ी, जाटू आदि इसके अनेक नाम हैं। इस पर पंजाबी तथा राजस्थानी का प्रभाव दिखलाई देता है। वस्तुतः यह खड़ी बोली की ही एक विभाषा है।

(घ) **कन्नौजी**—अवधी और ब्रज के मध्य इसका क्षेत्र है। इटावा, फर्रुखाबाद, कानपुर, शाहजहाँपुर, हरदोई, पीलीभीत आदि जिलों में यह बोली जाती है। यह भी ब्रजभाषा की एक विभाषा है।

(२) **राजस्थानी**—इसका विकास शौरसेनी के नागर अपभ्रंश से हुआ है। इसका प्रमुख क्षेत्र राजस्थान है। इसमें डिंगल काव्य की रचना हुई है। इसकी लिपि नागरी और महाजनी है। इसकी चार प्रमुख बोलियाँ हैं—मारवाड़ी, जयपुरी, मालवी और मेवाती।

(क) **मारवाड़ी**—यह पश्चिमी राजस्थान की बोली है। इसका क्षेत्र—जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर, जैसलमेर आदि है। पुरानी मारवाड़ी को डिंगल कहते हैं।

(ख) **जयपुरी**—यह राजस्थान के पूर्वी भाग में बोली जाती है। इसका क्षेत्र जयपुर, कोटा, बूँदी आदि।

(ग) **मालवी**—यह राजस्थान के दक्षिण पूर्वी भाग की भाषा है। इसका क्षेत्र इन्दौर है।

(घ) **मेवाती**—यह अलवर और हरियाणा के गुड़गाँव जिले के कुछ भागों में बोली जाती है।

(३) **गुजराती**—शौरसेनी अपभ्रंश के नागर रूप से गुजराती का विकास हुआ है। यह गुजरात प्रान्त की भाषा है। इसकी स्वतन्त्र लिपि है, जो देवनागरी से विकसित हुई। साहित्यिक दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण भाषा है।

(४) **मराठी**—यह महाराष्ट्री अपभ्रंश से निकली है। यह महाराष्ट्र की भाषा है। इसकी चार बोलियाँ मुख्य हैं—देशी, कोंकणी, नागपुरी तथा बराटी। मराठी का साहित्य समृद्ध एवं उच्चकोटि का है। इसमें मुकुन्दराज, ज्ञानेश्वर, रामदास, तुकाराम, नामदेव आदि की रचनाएँ महत्त्वपूर्ण है।

(५) **बिहारी**—यह मागधी अपभ्रंश से विकसित हुई है तथा समस्त बिहार प्रान्त में बोली जाने वाली भाषाओं का नाम हैं। इसकी प्रमुख भाषाएँ–भोजपुरी, मैथिली और मगही हैं।

(क) **भोजपुरी**—इस भाषा का क्षेत्र बहुत व्यापक है। बिहार का पश्चिमी भाग तथा उत्तरप्रदेश का पूर्वीभाग इसका क्षेत्र है। इसमें प्रमुख जिले–वाराणसी, गाजीपुर, बलिया, जौनपुर, मिर्जापुर, गोरखपुर, देवरिया, बस्ती, आजमगढ़ और बिहार के भोजपुर (शाहाबाद), राँची, सारन, चम्पारन आदि जिले हैं। इसका स्वतंत्र साहित्य नहीं है।

(ख) **मैथिली**—यह मिथिला क्षेत्र की भाषा है। इसका क्षेत्र दरभंगा, पूर्णियाँ, सहरसा और मुजफ्फरपुर का पूर्वी भाग है। बिहारी भाषाओं में सबसे अधिक समृद्ध भाषा मैथिली ही है। इसके प्रसिद्ध कवि विद्यापति, उमापति, हर्षनाथ, लखिमा ठकुरानी, मनबोध झा आदि हैं। मैथिली में मधुर लोकगीत हैं।

(ग) **मगही**–यह पटना, गया, हजारीबाग एवं भागलपुर के पूर्वी भागों में बोली जाती है। इसमें उल्लेखनीय साहित्य नहीं है, परन्तु कुछ लोकगीत हैं।

(६) **बंगाली**—यह बंगाल प्रान्त की भाषा है। मागधी अपभ्रंश के पूर्वी रूप से इसका विकास हुआ है। इसमें संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य है। इसके लिखित एवं उच्चरित रूप में भेद होता है। इसका साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। इसके प्रमुख साहित्यकार चंडीदास, कृत्तिवास, विजयगुप्त, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बंकिमचन्द्र, शरत्चन्द्र आदि है। बंगला की लिपि अलग है। यह प्राचीन देवनागरी से विकसित है।

(७) **उड़िया**—यह उड़ीसा प्रान्त की भाषा है। इस पर बंगाली एवं तेलुगु का अधिक प्रभाव है। इसकी लिपि भिन्न है, जो प्राचीन देवनागरी से विकसित हुई है।

(८) **असमी**—यह असम प्रान्त की भाषा है। इसका बंगला से अधिक साम्य है। लिपि भी बंगला के ही समान है। इस पर तिब्बती-बर्मी, नागा आदि भाषाओं का प्रभाव है।

(९) **पूर्वी हिन्दी**—यह अर्धमागधी अपभ्रंश से विकसित हुई है। इसकी तीन बोलियाँ है—अवधी, बघेली एवं छत्तीसगढ़ी। इसकी लिपि नागरी है।

(क) **अवधी**—यह लखनऊ, फैजाबाद एवं सीतापुर, रायबरेली, गोंडा तथा बहराइच आदि जिलों में बोली जाती है। कानपुर, इलाहाबाद एवं मिर्जापुर आदि में भी कुछ भागों में अवधी बोली जाती है। तुलसी का 'मानस' एवं जायसी का 'पद्मावत' प्रसिद्ध ग्रन्थ इसी भाषा में हैं।

(ख) **बघेली**—यह बघेलखंड की बोली है। इसका केन्द्र रीवाँ है।

(ग) **छत्तीसगढ़ी**—इसका क्षेत्र रायपुर एवं विलासपुर है। इसमें लोकगीत मिलते हैं।

(१०) **लहँदा** (लहँदी)—इसका विकास पैशाची अपभ्रंश से हुआ है। यह पंजाब के पश्चिमी भाग तथा पश्चिमोत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग की भाषा है। लहँदा का अर्थ है—पश्चिमी। इसकी लिपि लंडा हैं। यह उर्दू और गुरुमुखी में भी लिखी जाती है। इसका क्षेत्र पाकिस्तान में चला गया है।

(११) **सिन्धी**—यह प्राचीन सिन्ध प्रान्त की भाषा थी। इसकी पाँच बोलियाँ हैं—बिचौली, सिरैकी, लाड़ी, थरेली और कच्छी। इसमें बिचौली मुख्य है। यह साहित्यिक भाषा हो गई है। इसकी लिपि लंडा है। यह अरबी और गुरुमुखी में भी लिखी जाती है।

(१२) **पंजाबी**—यह पंजाब प्रान्त की भाषा है। इसकी एक बोली डोंगरी भी है। जो जम्मू राज्य में बोली जाती है। लिपि गुरुमुखी है। इसमें सिक्खों का साहित्य विशेष रूप से लिखा जा रहा है।

(१३) **पहाड़ी**—खस अपभ्रंश से इसका विकास हुआ है। कुछ विद्वान् शौरसेनी से ही इसका विकास मानते हैं। इसकी लिपि नागरी है। इसके तीन वर्ग है—पश्चिमी, मध्य और पूर्वी। पश्चिमी पहाड़ी की लगभग ३० बोलियाँ है। इसमें उत्तरप्रदेश के जौनसार-बाउर की जौनसारी तथा पश्चिमी पहाड़ी भाग शिमला की शिरमौरी, चँवाली, कुलुई आदि मुख्य बोलियाँ हैं। मध्य पहाडी के दो भाग हैं—गढ़वाली और कुमाउँनी। कुमाउँनी में थोड़ा साहित्य है, किन्तु लोक-साहित्य की दृष्टि से यह सम्पन्न बोली है। खसपरजिया, अस्कोटी, सौराली एवं कुंमय्या आदि इसके कई उपभाग हैं। पूर्वी पहाड़ी का सम्बन्ध नेपाल से है। यह नेपाल की राजभाषा है।

(१६) **प्रश्न**—विभिन्न आधारों का परिचय देते हुए स्वरों का वर्गीकरण कीजिए।

उत्तर—स्वर वे ध्वनियाँ या वर्ण हैं, जिनके उच्चारण में मुख-विवर सदैव कम या अधिक खुला रहता है। अतः बाहर निकलती हुई श्वास-वायु मुख-विवर में कहीं भी अवरुद्ध हुए बिना ही बाहर निकल जाती है। स्वरों के उच्चारण में न तो जिह्वादि कोई उच्चारण अवयव मुखविवर में किसी अन्य उच्चारण अवयव को स्पर्श करता है और न ही कोई स्फोट होता है। स्वरों का वर्गीकरण निम्न पाँच आधारों पर किया जाता है—

(१) **मात्रा के आधार पर**—इस आधार पर स्वरों के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत ये तीन वर्ग बनाये जाते हैं। एकमात्राकाल तक उच्चारित स्वर ह्रस्व, जैसे—'अ'। दो मात्राकाल तक उच्चारित स्वर दीर्घ, जैसे 'आ' तथा तीन मात्राकाल तक उच्चारित स्वर प्लुत, जैसे 'आ ३' कहलाता है।

(२) **मुखकुहर के खुलने के आधार पर**—इस आधार पर स्वरों के चार वर्ग बनाये जाते हैं—१. विवृत, २. ईषद् विवृत ३. ईषत् संवृत तथा ४. संवृत। जिन स्वरों के उच्चारण में मुख अधिक से अधिक खुला रहता है, वे विवृत कहलाते हैं; जैसे—'आ'। जिन स्वरों के उच्चारण में मुख विवृत की अपेक्षा कुछ कम खुला रहता है, वे ईषद् विवृत कहलाते हैं; जैसे—ऍ, ऑ।

इसी प्रकार जिन स्वरों के उच्चारण में मुखकुहर अधिक से अधिक संकीर्ण रहता है, वे संवृत कहलाते हैं, जैसे—ई, ऊ। तथा जिन स्वरों के उच्चारण में मुखकुहर कम संवृत रहता है, वे ईषत्संवृत कहलाते हैं, जैसे—ए, ओ।

(३) **जिह्वा की स्थिति के आधार पर**—स्वरों के उच्चारण में जिह्वा का अग्र, मध्य तथा पश्च भाग कुछ ऊँचा या नीचा हो जाता है। इसी आधार पर स्वरों को अग्रस्वर जैसे—इ, ई, ए; मध्यस्वर जैसे—अ तथा पश्चस्वर जैसे—आ, उ, ऊ भाग किये जाते हैं।

(४) **ओष्ठों की स्थिति के आधार पर**—कुछ स्वरों के उच्चारण में ओष्ठ वृत्ताकार स्थिति में रहते हैं तथा कुछ स्वरों के उच्चारण में अपनी सामान्य दशा में ही बने रहते हैं। स्वरों में 'ऊ' वृत्ताकार स्वर हैं। 'आ' तथा ऍ अर्ध वृत्ताकार स्वर हैं तथा इ, ए, ऐ आदि स्वर न वृत्ताकार हैं और न अर्धवृत्ताकार ही, अतः इनके उच्चारण में ओष्ठ प्रायः सामान्य स्थिति में ही रहते हैं।

(५) **अनुनासिकता के आधार पर**—स्वरों के उच्चारण में जब श्वास पूर्णतया मुखविवर से ही बाहर निकलती है, तब सभी स्वर अननुनासिक या निरनुनासिक होते हैं, किन्तु जब श्वास का कुछ भाग मुखविवर से तथा कुछ नासिकाविवर से बाहर निकलता है, तब सभी स्वर अनुनासिक कहे जाते हैं।

इस प्रकार स्वरों के उपर्युक्त प्रमुख वर्गीकरण के अतिरिक्त स्वरों के दृढ़ स्वर तथा कोमल स्वर आदि दूसरे कुछ गौण वर्गीकरण भी प्रचलित हैं। स्वरों के और अधिक स्पष्ट अध्ययन के लिए मानस्वरों की कल्पना की गई है।

मानस्वर—डॉ० भोलानाथ तिवारी के शब्दों में—'मानस्वर किसी विशेष भाषा के नहीं होते, अपितु विवृतता-संवृतता तथा अग्रता-पश्चता-मध्यता के आधार पर किसी भी भाषा के स्वरों का स्थान निर्धारित करने के लिए काम में आने वाले मानक या मानदंड है'। मानस्वर, आदर्शस्वर, मूलस्वर या आधारस्वर संख्या में कुल ८ हैं। ये काल्पनिक हैं। अतः इन्हें किसी भाषा से सम्बद्ध नहीं समझना चाहिए। मानस्वरों की उच्चारण-स्थिति को प्रदर्शित करने के लिए जिस 'स्वर-चतुर्भुज' नामक चित्र का प्रचलन है, वह आंग्ल भाषा-वैज्ञानिक प्रोफेसर डैनियल जोन्स द्वारा बनाया गया था।

मानस्वरों के आधार पर विभिन्न भाषाओं के स्वरों की उच्चारण-स्थिति

को ठीक-ठीक जाना जा सकता है। मानस्वरों को प्रदर्शित करने वाला प्रचलित चित्र इस प्रकार है—
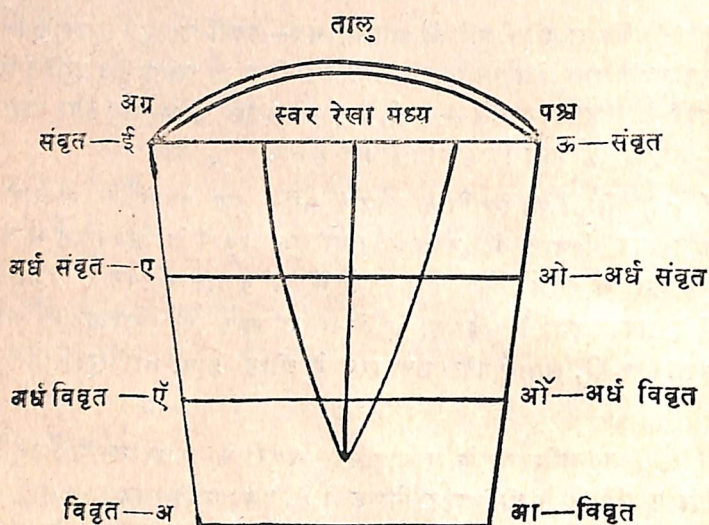
उपरोक्त चित्र में स्वरों को जिह्वा के अग्र-पश्च तथा मुखविवर के संवृत-विवृत होने की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। आठ स्वरों में से चार स्वर अग्र हैं। जैसे—ई, ए, ऍ, अऽ । इनका उच्चारण जिह्वा के अग्रभाग से होता है। चार स्वर पश्च हैं। जैसे—ऊऽ, ओ, ऑ, आ। इनका उच्चारण जिह्वा के पश्च भाग से होता हैं। संवृत से तात्पर्य है—मुखविवर का अधिकतम सँकरा होना, किन्तु इस सीमा तक कि जिह्वा का स्पर्श ताल से न होने पाये। इसी प्रकार विवृत से तात्पर्य है—मुखविवर का अधिकतम खुला होना। संवृत के समीप अर्धसंवृत तथा विवृत के समीप अर्धविवृत की स्थिति है।

इस प्रकार उपर्युक्त चित्र में स्वरों के उच्चारण की एक आदर्श स्थिति को प्रकट किया गया है, जिनके आधार पर थोड़ा इधर-उधर उच्चारण वाले स्वरों के उच्चारण की स्थिति को भी जाना जा सकता है।

(१७) **प्रश्न**—ध्वनियों के वर्गीकरण के आधारों का परिचय देते हुए व्यंजन ध्वनियों का वर्गीकरण कीजिए।

उत्तर—किसी भी भाषा के ध्वनिसमूह या वर्णमाला को स्पष्ट रूप से समझने की दृष्टि से तथा वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से वर्गीकृत किया जाता है। इस वर्गीकरण से भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों को पृथक्-पृथक् समझना सरल हो जाता है तथा प्रत्येक ध्वनि को स्पष्ट रूप से समझ लेने के कारण ध्वनियों के उच्चारण में स्पष्टता आ जाती है।

ध्वनिसमूह—ध्वनियों का वर्गीकरण करने से पूर्व यह निश्चित करना आवश्यक होता है कि भाषा-विशेष में ध्वनियों की कुल संख्या कितनी है। प्रत्येक भाषा में कुछ स्पष्ट ध्वनियों का यथासम्भव संकलन किया जाता है तथा उनके लिए लिपिचिह्न निश्चित किये जाते हैं। इन्हीं चिह्नों को वर्ण कहा जाता है तथा इनका समूह ही ध्वनिसमूह या वर्णमाला कही जाती है। उदाहरणार्थ हिन्दी ध्वनिसमूह को लिया जा रहा है—

स्वर—

मूल स्वर—अ आ इ ई उ ऊ ए ओ =८

संयुक्त स्वर—अइ (ऐ) अउ (औ) =२

व्यंजन—

स्पर्श—क़ (क़्) ख् ग् घ्
ट् ठ् ड् ढ्
त् थ् द् ध्
प् फ् ब् भ् =१७

संघर्षी—ह् ख़् ग़् श़् स़् ज़् फ़् ब =८

स्पर्शसंघर्षी—च् छ् ज् झ् =४

अनुनासिक—ङ् (ञ्) न् न्ह् म् म्ह् ण् =७

पार्श्विक—ल् (ल्ह्) =२

लुण्ठित—र् (र्ह्) =२

उत्क्षिप्त—ड़् ढ़् =२

अन्तःस्थ का अर्द्धस्वर—य् व् =२

कुल ५४

ध्वनियों के वर्गीकरण का आधार—ध्वनियों का वर्गीकरण प्रमुख रूप से तीन तत्त्वों को दृष्टि में रखकर किया जाता है—१. श्रवणीयता, २. उच्चारण-स्थान तथा ३. उच्चारण-प्रयत्न।

(१) श्रवणीयता का तात्पर्य है—ध्वनियों या वर्णों के सुने जाने की योग्यता या सामर्थ्य। इस आधार पर ध्वनियों के तीन वर्ग हैं—(क) स्वर, (ख) व्यंजन तथा (ग) अन्तःस्थ।

स्वर—'स्वयं राजन्ते स्वरा अन्वग् भवति व्यञ्जनम्' अर्थात् स्वर स्वतंत्र रूप से शोभित होते हैं तथा व्यञ्जन उनका अनुसरण करते हैं। स्वर ऐसी अघोष आवाज को कहते हैं, जिसके उच्चारण में वायु के प्रवाह की गति बिना किसी रुकावट के होती है और किसी प्रकार का सुनने में आने वाला मौखिक अवयवों का घर्षण नहीं होता है।

व्यंजन—श्रवणीयता के आधार पर ध्वनियों का दूसरा वर्ग व्यञ्जन कहलाता है। व्यञ्जन वे ध्वनियाँ हैं, जिनके उच्चारण में स्वरयन्त्र से बाहर निकलती हुई श्वास वायु मुख-नासिका के संधिस्थल या मुख-विवर में कहीं न कहीं अवरुद्ध होकर या संघर्षित होकर मुख या नासिका से बाहर निकलती है। व्यञ्जनों के उच्चारण में जिह्वा आदि (करण) तालु आदि स्थानों का स्पर्श करते हैं तथा स्फोट होता है।

अन्तःस्थ—श्रवणीयता के आधार पर ध्वनियों का तीसरा वर्ग अन्तःस्थ कहलाता है। कभी-कभी किसी कम परिस्फुट स्वर के बाद अपेक्षाकृत अधिक परिस्फुट स्वर आ जाने से पहला स्वर बहुत ही ह्रस्व उच्चरित होता है। उदाहरणार्थ—य् व्।

(२) **उच्चारण-स्थान के अनुसार ध्वनियों का वर्गीकरण**—फेफड़ों से उत्पन्न होकर श्वास-नालिका से प्रवाहित होती हुई प्राणवायु वाग्यन्त्र में जिस स्थान पर रुककर या संकीर्ण होकर ध्वनि बनती है, वाग्यंत्र का वह अवयव उस ध्वनि का स्थान कहलाता है। हिन्दी-संस्कृत में प्रयुक्त ध्वनियों की दृष्टि से उच्चारणोपयोगी अवयवों में से निम्नलिखित अवयव स्थान का कार्य करते हैं—१. काकल, २. जिह्वामूल, ३. कण्ठ या कोमल तालु, ४. नासिका, ५. कण्ठ तथा तालु, ६. कण्ठ तथा ओष्ठ, ७. मूर्धा, ८. कठोर तालु, ९. वर्त्स, १०. दन्त, ११. दन्त तथा ओष्ठ, १२. दोनों ओष्ठ।

इस आधार पर ध्वनियों का वर्गीकरण इस प्रकार है—१. काकल्य ध्वनियाँ, २. जिह्वामूलीय, ३. कण्ठ्य या कोमलतालव्य ४. नासिक्य, ५. कण्ठचतालव्य, ६. कण्ठोष्ठ्य, ७. मूर्धन्य, ८. तालव्य, ९. वर्त्स्य, १०. दन्त्य, ११. दन्तोष्ठ्य एवं १२. द्वयोष्ठ्य।

(३) **उच्चारण प्रयत्न के अनुसार ध्वनियों का वर्गीकरण**—ध्वनियों के उच्चारण में उच्चारणावयवों का जो व्यापार होता है, वह 'प्रयत्न' कहलाता है। भिन्न-भिन्न ध्वनियों के उच्चारण में यह प्रयत्न भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। यह प्रयत्न दो प्रकार का होता है—(क) आभ्यन्तर प्रयत्न (ख) बाह्य प्रयत्न।

(क) **आभ्यन्तर प्रयत्न**—वह प्रयत्न, जो मुखविवर या आस्य में होता है, आभ्यन्तर प्रयत्न कहलाता है। जिह्वा द्वारा मुखविवर में ध्वनियों के स्थान का स्पर्श इसी प्रयत्न में आता है। आभ्यन्तर प्रयत्न से स्वरों का प्रयत्न केवल विवृत ही होता है। इस आधार पर ध्वनियों के स्पर्श, संघर्ष, स्पर्शसंघर्षी, अनुनासिक, पार्श्विक, लुण्ठित एवं उत्क्षिप्त तथा अर्द्धस्वर नाम से आठ भेद होते हैं।

(ख) **बाह्य प्रयत्न**—वह प्रयत्न, जो मुखविवर से बाहर अर्थात् नासिका, स्वरतन्त्रियों तथा उर में होता है, बाह्य प्रयत्न कहलाता है। बाह्य प्रयत्न के आधार पर स्वरध्वनियों के संवृत, अर्द्धसंवृत, विवृत तथा अर्द्धविवृत ये चार भेद होते हैं। व्यंजनों के अघोष तथा सघोष भेद एवं अल्पप्राण तथा महाप्राण भेद भी बाह्य प्रयत्न के आधार पर किये जाते हैं।

(क) **आभ्यन्तर प्रयत्न के आधार पर ध्वनियों का वर्गीकरण**—

१. **स्पर्श**—ध्वनियों में मुखविवर में एक उच्चारण अवयव (करण जैसे—जिह्वा, ओष्ठ आदि) दूसरे उच्चारण अवयव (स्थान जैसे–तालु, कण्ठ, ओष्ठ, दन्त आदि) का स्पर्श करता है। इस स्पर्श के कारण ही ये ध्वनियाँ स्पर्श कही जाती हैं। साथ ही इन ध्वनियों में दो उच्चारणावयवों के स्पर्श करने से पहले वायु क्षण भर को अवरुद्ध हो जाती है। जैसे हिन्दी में—

(क्) क् ख् ग् घ् (कवर्ग)।
त् थ् द् ध् (तवर्ग)
ट् ठ् ड् ढ् (टवर्ग)
प् फ् ब् भ् (पवर्ग)

ये ध्वनियाँ स्पर्श मानी जाती हैं। संस्कृत में कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग की, ये सभी २५ ध्वनियाँ स्पर्श मानी गई हैं। (कादयो मावसानाः स्पर्शाः।)

२. **संघर्षी**—संघर्षी ध्वनियों में मुख-विवर सँकरा हो जाने के कारण वायु संघर्ष करती हुई बाहर निकलती है। स्पर्श ध्वनियों की भाँति इनके उच्चारण में न तो स्पर्श होता है और न स्फोट ही। केवल जिह्वादि करण के उच्चारण-स्थान के समीप आ जाने से वायु का मार्ग सँकरा हो जाता है, जिसके कारण श्वासवायु संघर्ष किये बिना बाहर नहीं निकल पाती है। हिन्दी की स् श् ष् ह्, विसर्ग (:), व् तथा विदेशी शब्दों में प्रयुक्त ख़, ग़, ज़, फ़, आदि ध्वनियाँ संघर्षी ही हैं।

३. **स्पर्श-संघर्षी**—इनमें स्पर्श तथा संघर्ष दोनों विशेषताएँ मिलती हैं। इनका आरम्भ स्पर्श से होता है तथा बाद में वायु संघर्ष करती हुई मुख से बाहर निकलती है। हिन्दी की च् छ् ज् झ (च वर्ग) की चार ध्वनियाँ स्पर्श-संघर्षी हैं।

४. **अनुनासिक**—जिन ध्वनियों का उच्चारण करते समय श्वासवायु मुख-विवर के साथ-साथ नासिका-विवर से भी निकलें, वे ध्वनियाँ अनुनासिक कहलाती हैं—'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः' (अष्टाध्यायी १।१।८।)। हिन्दी की ङ्, ञ्, न्, म्, , ँ, न्ह तथा म्ह् ध्वनियाँ अनुनासिक हैं। प्रयोग के आधार पर इनमें पूर्ण अनुनासिक और अर्द्ध अनुनासिक दो भेद किये जाते हैं। इन्हें नासिक्य भी कहते हैं। संस्कृत में ङ्, ञ्, न् तथा म् ध्वनियाँ अनुनासिक मानी जाती हैं। सभी स्वर अनुनासिक ही होते हैं।

५. **पार्श्विक**—जिन ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा ऊपर के मसूड़ों का स्पर्श करती हुई श्वासवायु का मार्ग इस प्रकार का बना देती है कि श्वासवायु जिह्वा के दोनों पार्श्व से होकर बाहर निकलती है। यथा—हिन्दी की ल् तथा ल्ह् ध्वनियाँ पार्श्विक हैं।

६. **लुण्ठित**—जिन ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा बेलन की भाँति गोल होकर जिह्वानोक से वार्त्स्य को जल्दी-जल्दी कई बार स्पर्श करती हुई श्वास-वायु को निकलने देती है, वे ध्वनियाँ लुण्ठित कही जाती है। यथा—हिन्दी र्, र्ह् ध्वनियाँ लुण्ठित हैं।

७. **उत्क्षिप्त**—जिन ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा की नोक शीघ्रता से उठकर उच्चारण-स्थान का स्पर्श करती है, वे ध्वनियाँ उत्क्षिप्त कहलाती हैं। यथा—हिन्दी की ड़, ढ़् ध्वनियाँ उत्क्षिप्त हैं।

अन्तःस्थ या अर्द्धस्वर—कुछ ध्वनियाँ ऐसी हैं, जिनकी गणना तो व्यञ्जनों में होती हैं, किन्तु प्रयोग स्वरों के स्थान पर भी किया जा सकता है। व्यञ्जनों की भाँति इनमें स्पर्श तो होता है, किन्तु बहुत कम तथा वायु स्वरों की भाँति बिना किसी संघर्ष के बाहर निकलती है। यथा—हिन्दी की य्, व् ध्वनियाँ अर्द्धस्वर ही है।

(ख) **बाह्य प्रयत्न के अनुसार ध्वनियों का वर्गीकरण**—मुख-विवर से बाहर अर्थात् स्वरतन्त्री, उर और नासिका में होने वाला प्रयत्न बाह्य प्रयत्न होता है। बाह्य प्रयत्न के तीन भेद हैं—

१. स्वरतन्त्रीय बाह्य प्रयत्न।

२. औरस्य बाह्य प्रयत्न।

३. नासिक्य बाह्य प्रयत्न।

१. स्वरतन्त्रीय बाह्य प्रयत्न—स्वरतन्त्रियाँ ध्वनियों में घोष उत्पन्न करती हैं। अतः इनके आधार पर भी ध्वनियों के दो भेद किये जाते हैं—

(अ) अघोष (इन्हें श्वास भी कहते हैं)।

(आ) अघोष (इन्हें घोष या नाद भी कहते हैं)।

(अ) **अघोष ध्वनियाँ**—कण्ठपिटक या स्वरयन्त्र में दो स्वरतन्त्रियाँ स्थित हैं। जब ये स्वरतन्त्रियाँ श्वासनलिका से निकलती हुई श्वासवायु को अवरुद्ध नहीं करतीं तथा अपेक्षाकृत शिथिल रहती हुई अपने मध्य स्थित श्वासवायु के मार्ग को खुला रहने देती हैं, तब जो ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं, वे अघोष कहलाती हैं। इनके उच्चारण में वायु का घर्षण केवल मुखविवर में ही होता है। हिन्दी तथा संस्कृत की निम्न ध्वनियाँ अघोष मानी जाती हैं। यथा—क्, ख्, च्, छ, त्, थ्, ट्, ठ्, प्, फ् तथा श्, ष्, स् अर्थात् वर्गों के प्रथम तथा द्वितीय वर्ण और संघर्षी वर्ण।

(आ) **सघोष ध्वनियाँ**—कण्ठपिटक या स्वरयन्त्र में स्थित स्वरतन्त्रियाँ जब अपेक्षाकृत तनकर श्वासनलिका से निकलती हुई श्वासवायु को अवरुद्ध कर देती हैं तथा श्वासवायु उनमें टकराकर स्वरतन्त्रियों को अघोष ध्वनियों की अपेक्षा अधिक कम्पित करती हुई बाहर निकलती हैं, तब सघोष या नाद ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं। हिन्दी तथा संस्कृत की निम्न ध्वनियाँ सघोष मानी जाती हैं—

सभी स्वर एवं ग्, घ्, ङ्, ज्, झ्, ञ्, ड्, ढ्, ण्, ब्, भ्, म् तथा य्, र्, ल्, व्, ह् अर्थात् सभी वर्गों के अन्तिम तीनों वर्णों के अतिरिक्त य्, र्, ल्, व्, ज्, ग्, ह्, ड्, ढ् आदि ध्वनियाँ भी घोष ध्वनियाँ मानी जाती है।

२. **औरस्य बाह्य प्रयत्न**—उर से तात्पर्य वक्ष से है। उर में श्वासवायु कम या अधिक करने की क्षमता है। अतः औरस्य बाह्य प्रयत्न के द्वारा ध्वनियों में अल्पप्राणता या महाप्राणता उत्पन्न की जाती है। इस आधार पर व्यञ्जनों के दो भेद किये गए हैं—अल्पप्राण तथा महाप्राण।

(अ) **अल्पप्राण**—वे ध्वनियाँ, जिनके उच्चारण में श्वासवायु का वेग कम रहता है, अल्पप्राण कहलाती हैं। हिन्दी तथा संस्कृत की निम्न ध्वनियाँ अल्पप्राण हैं—

क, ग, ङ्, ट, ड्, ड़्, ण्
च ज्, ञ्, त् द्, न्, प, ब, म्, ऱ्।
पाँचों वर्णों के प्रथम, तृतीय तथा पंचम वर्ण और ङ् तथा ऱ्।

(आ) **महाप्राण**—वे ध्वनियाँ, जिनके उच्चारण में श्वासवायु का वेग अधिक रहता है, महाप्राण कहलाती हैं। हिन्दी तथा संस्कृत की निम्नलिखित ध्वनियाँ महाप्राण है—

ख्, घ्, फ्, भ्	}	वर्णों के द्वितीय, चतुर्थ वर्ण
छ्, झ्, ह्, : (विसर्ग)		ह् : विसर्ग
ठ्, ढ्, (ढ़्) न्ह्, म्ह्		न्ह्, म्ह्, ल्ह् तथा ऱ्ह्।
थ्, ध्, ल्ह्, ऱ्ह्		

३. **नासिक्य बाह्य प्रयत्न**—प्राचीन ध्वनिविदों ने नासिका को मुख से बाहर ही माना है। अतः नासिका द्वारा किया गया प्रयत्न भी बाह्य प्रयत्न ही माना जाता है। नासिक्य प्रयत्न द्वारा भी ध्वनियों के दो भेद हो जाते हैं—(अ) अनुनासिक, (आ) अननुनासिक या निरनुनासिक।

(अ) **अनुनासिक**—जिन ध्वनियों के उच्चारण में श्वासवायु मुख के साथ-साथ नासिका से या केवल नासिका से बाहर निकलती है, वे ध्वनियाँ अनुनासिक कही जाती हैं। यथा—

ङ्, ञ्, ण्, न् और म् ये नित्य अनुनासिक हैं।
यँ, वँ और लँ, ये संस्कृत ध्वनियाँ विकल्प से अनुनासिक हैं।

अनुस्वार (ं) ऐसी अनुनासिक ध्वनि है, जिसके उच्चारण में मुखविवर ओठों द्वारा बन्द रहता है तथा सम्पूर्ण श्वासवायु नासिका से ही बाहर निकलती है, यह भी नित्य अनुनासिक ध्वनि है ।

(आ) **अननुनासिक या निरनुनासिक**—जिन ध्वनियों के उच्चारण में श्वासवायु पूर्णतया मुखविवर से ही बाहर निकलती है, वे ध्वनियाँ अननुनासिक या निरनुनासिक कही जाती हैं ।

डॉ० भोलाशंकर व्यास ने संस्कृत के व्यञ्जन ध्वनियों के वर्गीकरण की रूप-रेखा इस प्रकार दी है—

	स्पर्श				निरन्तर			
स्थान	अल्पप्राण		महाप्राण				अनुनासिक	
	अघोष	सघोष	अघोष	सघोष	अघोष	सघोष	अघोष	सघोष
कण्ठ्य या कोमल तालुजन्य	क	ग	ख	घ	ह	ह	—	ङ
तालव्य	च	ज	छ	झ	श	य	—	ञ
प्रतिवेष्ठित या मूर्धन्य	ट	ड	ठ	ढ	ष	—	—	ण
दन्त्य	त	द	थ	ध	स	ल	—	न
द्वयोष्ठ्य	प	ब	फ	भ	—	व	—	म
वर्त्स्य	—	—	—	—	—	र	—	[न]
दन्तोष्ठ्य	—	—	—	—	(फ) प	व्व		

(१८) **प्रश्न**—ध्वनि-परिवर्तन से आप क्या समझते हैं ? ध्वनि-परिवर्तन के कारणों पर सोदाहरण प्रकाश डालिए ।

उत्तर—किसी भी भाषा के विकास पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि उसके प्राचीन तथा नवीन शब्दों में ध्वनि-सम्बन्धी अनेक परिवर्तन हुए हैं । इन परिवर्तनों के भी अनेक रूप हैं—अर्थात् कहीं शब्दों में नई ध्वनियाँ आकर जुड़ गई हैं, तो कहीं शब्दों में से कुछ ध्वनियाँ लुप्त हो गई हैं, कहीं शब्दों में ध्वनियों के स्थान में ही परिवर्तन हो गया है । इसी प्रकार कहीं भिन्न ध्वनियाँ समान हो गई हैं, तो कहीं समान ध्वनियाँ भिन्न-भिन्न ध्वनियों में परिवर्तित हो गई हैं । परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है । किसी भी जीवित सत्ता में पल-प्रतिपल परिवर्तन होता रहता है ।

यह परिवर्तन ही विकास है। भाषा ध्वनियों का ही समूह है। इन ध्वनियों (शब्द की ध्वनियों) में सदैव परिवर्तन होते रहते हैं। उदाहरण के लिए कल का 'कृष्ण' आज किशन या कान्हा हो गया है। इसी प्रकार कल के उपाध्याय आज झा साहब हैं। ये परिवर्तन धीरे-धीरे होते रहते हैं और अपने पूरे क्षेत्र में व्यापक होते हैं। व्यक्ति अनुकरण द्वारा भाषा सीखता है, किन्तु संसार में कोई भी दो व्यक्ति नितान्त एक जैसे नहीं होते, न ही उनके संस्कार, शिक्षा तथा परिवेश आदि एक समान होते हैं, इसलिए अनुकरण द्वारा सीखे जाने के कारण ही भाषा में परिवर्तन हो जाते हैं।

सामान्यतया ध्वनि-परिवर्तन के मुख्य कारणों को आभ्यन्तर तथा बाह्य, इन दो वर्गों में विभाजित कर इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है—

आभ्यन्तर कारण—इसके अन्तर्गत वक्ता का शारीरिक गठन, अनुकरण की क्षमता, मानसिक स्तर, प्रयोगाधिक्य, घिसना आदि आते हैं। ये सभी कारण व्यक्ति में निहित ध्वनि-परिवर्तन के कारण कहे जायेंगे—१. प्रयत्न-लाघव या मुख-सुख, २. क्षिप्र-भाषण, ३. अशिक्षा तथा अज्ञान, ४. भावातिरेक, ५. आत्मप्रदर्शन, ६. यदृच्छात्मक शब्द, ७. मात्रा, सुर और बलाघात, ८. कलात्मक स्वच्छन्दता, ९. लिपिदोष या लिपि की अपूर्णता, १०. विदेशी ध्वनियों का अभाव।

बाह्य कारण—ये व्यक्ति के परिवेश में निहित ध्वनि-परिवर्तन के कारण है—१. भौगोलिक परिस्थितियाँ और २. ऐतिहासिक परिस्थितियाँ।

ध्वनि-परिवर्तन के आभ्यन्तर कारण—

१. **प्रयत्नलाघव या मुखसुख**—यह ध्वनि-परिवर्तन का सर्वप्रमुख कारण है। प्रयत्नलाघव से तात्पर्य है, अधिक श्रम की अपेक्षा कम श्रम से काम चलाना। यह मानवसुलभ प्रवृत्ति है। भाषा में भी यह अपना कार्य करती है। इसके कारण मनुष्य कम से कम भाषा में अधिकाधिक भावों तथा विचारों को व्यक्त करने का प्रयत्न करता है।

पाणिनीय व्याकरण में अच्, हल् आदि प्रत्याहार इसके सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कहे जा सकते हैं। प्रयत्नलाघव के कारण होने वाला ध्वनि-परिवर्तन अनेक दिशाओं में होता है। यथा—कभी किसी ध्वनि का लोप हो जाता है; जैसे—स्थल से थल तथा कभी किसी नई ध्वनि का आगम हो जाता है; जैसे—वधू से वधूटी। इसी प्रकार विपर्यय, समीकरण, विषमीकरण, सघोषीकरण, अघोषी-

करण, सन्धि तथा मात्रा-भेद आदि अनेक प्रकार के ध्वनि-परिवर्तनों का कारण प्रयत्न-लाघव ही होता है। याज्ञवल्क्य का जागवलिक, वज्राङ्ग का बजरङ्ग आदि उच्चारण भी प्रयत्नलाघव या मुख-सुख के ही कारण होता है।

प्राचीनकाल में शुक्ल दिवस को क्रमशः शुदि कहा जाने लगा था। इसी प्रकार आधुनिक काल में पाकिस्तान को पाक तथा संयुक्त विधायक दल को 'संविद' मुख-सुख के कारण ही कहा जाता है। यह संक्षिप्तीकरण भी प्रयत्न-लाघव ही है।

संक्षेप में, भाषा में सरलीकरण की जितनी भी प्रवृत्तियाँ या प्रयास हैं, वे सब प्रयत्न-लाघव की ही देन हैं।

२. **क्षिप्र-भाषण**—कभी-कभी अनजाने ही अथवा क्षिप्र-भाषण में वक्ता ध्वनियों का उच्चारण स्पष्ट रूप से नहीं कर पाता। अतः शब्दों में प्रयुक्त अनेक ध्वनियाँ लुप्त हो जाती हैं तथा अनेक ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। यथा—भ्रातृजाया से भौजाई, बाबूजी से बाऊजी, मास्टर साहब से मास्साब, प्रोफेसर साहब से प्रोस्साब आदि क्षिप्र-भाषण के ही परिणाम हैं।

३. **अशिक्षा या अज्ञान**—अशिक्षा के कारण ही व्यक्ति भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों के शुद्ध उच्चारण से परिचित नहीं हो पाता है। बोलचाल में ध्वनियों का उच्चारण दोषपूर्ण रहता है, जिससे मात्रा-भेद, लोप, सघोषीकरण, अघोषीकरण, महाप्राणीकरण, अल्पप्राणीकरण तथा भ्रामक व्युत्पत्ति आदि अनेक परिवर्तन होते हैं। अज्ञान के कारण एकदश को मिथ्यासादृश के कारण एकादश और इड़ा को इङ्गला आदि कहा जाता है। अशिक्षा के कारण ही भ्रामक व्युत्पत्ति की जाती है। यथा—चेम्सफोर्ड को, चितमफोड़ तथा रिपोर्ट को रपट, कर्फ्यू को कम्फू या कम्पू तथा आर्डर को औडर आदि कहा जाता है।

४. **भावातिरेक**—भावातिरेक प्रेम, शोक, क्रोध आदि में व्यक्ति शब्दों का उच्चारण अस्वाभाविक रूप से करता है। इस कारण ध्वनियों में अनेक परिवर्तन हो जाते हैं। उदाहरणार्थ—बेटी से बिटिया, बेटा से बिटवा, बहु से बहुरिया, राम से रामू या रमुआ आदि ध्वनि-परिवर्तन का कारण भावातिरेक ही है।

५. **आत्मप्रदर्शन**—आत्मप्रदर्शन की प्रवृत्ति के कारण भी अनेक वक्ता बनकर बोलने लगते हैं। इस तरह बोलने से भी ध्वनियों में कई परिवर्तन हो

जाते हैं। उदाहरण के लिए अर्द्धशिक्षित व्यक्ति स्वयं को अधिक शिक्षित प्रकट करने के लिए ही इच्छा को इक्षा, शाप को श्राप, अचार को आचार तथा अंग्रेजी के उल्टे-सीधे शब्दों का प्रयोग करते हैं। अंग्रेजी में इस प्रवृत्ति को मैलाप्रोपिज्म कहा जाता है।

६. **यदृच्छात्मक शब्द**—यदृच्छात्मक शब्द प्राचीन काल से भाषा के अंग रहे हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने शब्दों के चार भेद माने हैं—जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक तथा यदृच्छात्मक। यदृच्छात्मक शब्द इच्छानुसार गढ़ लिए जाते हैं, व्याकरण के अनुसार नहीं। संस्कृत में डित्थ शब्द इसका उदाहरण माना जाता है। हिन्दी में रोटी-वोटी, पानी-वानी में वोटी और वानी ऐसे ही शब्द हैं।

७. **मात्रा, सुर तथा बलाघात**—इन तीनों में बलाघात का महत्त्व सर्वाधिक है। प्रायः देखने में आता है कि बलाघात के कारण जिस ध्वनि के उच्चारण पर अधिक बल दिया जाता है, उसके समीप की ध्वनि दुर्बल पड़ जाने से बाद में लुप्त हो जाती है। उदाहरणार्थ—आभ्यन्तर से भीतर। यहाँ भ्य पर बलाघात होने के कारण अ ध्वनि लुप्त हो जाती है।

इसी प्रकार सुर के कारण भी ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। जैसे—कुष्ठ से कोढ़ तथा बिल्व से बेल आदि।

जब दो दीर्घ मात्राएँ साथ-साथ आती हैं, तो उनका उच्चारण कठिन होने के कारण भी प्रायः एक मात्रा ह्रस्व हो जाती है। उदाहरणार्थ—बाजार से बजार या आकाश से अकाश आदि।

८. **कलात्मक स्वच्छन्दता**—काव्यकला में प्रयुक्त कविस्वातन्त्र्य के कारण भी ध्वनियों में अनेक परिवर्तन होते हैं। प्रायः पादपूर्ति, माधुर्य या लालित्य आदि के कारण कविगण जहान को जहाना, चरण को चरन, काजल को काजर, यशोदा को जसोदा आदि के रूप में प्रयुक्त करते हैं। बाद में ये शब्द भाषा के अंग ही बन जाते हैं।

९. **लिपिदोष या लिपि की अपूर्णता**—प्रत्येक भाषा की अपनी पृथक् ध्वनियाँ होती हैं। अतः किसी एक भाषा की ध्वनि द्वारा सभी भाषाओं की ध्वनियों को प्रकट करना सम्भव नहीं हो पाता है। ऐसी दशा में दूसरी भाषा की ध्वनियों को लिखने के लिए अपनी भाषा की मिलती-जुलती

ध्वनियों का प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ फारसी में कर्ण को करन, प्रकाश को परकाश आदि लिखा जाता है। गुरुमुखी में स्टेशन का सटेशन हो गया है। रोमन लिपि के कारण राम, कृष्ण तथा मालवीय>क्रमशः रामा, कृष्णा तथा मालविया हो गए हैं। देवनागरी में भी 'ष' के स्थान पर ख (बरखा), टंकण की सुविधा के लिए रु तथा रू के स्थान पर रु, अनुस्वार (ं) तथा अनुनासिक (ँ) के स्थान पर केवल अनुस्वार के प्रचलन से भी ध्वनियों में परिवर्तन हो रहा है।

१०. **विदेशी ध्वनियों का अभाव**—हिन्दी की ण ध्वनि अंग्रेजी तथा फारसी में 'न' तथा अरबी की ग़, ज़ ध्वनियाँ हिन्दी में ग, ज हो जाती है, हिन्दी त अंग्रेजी मे ट (t) हो जाता है।

ध्वनि-परिवर्तन के बाह्य कारण

१. **भौगोलिक परिस्थितियाँ**—भौगोलिक परिस्थितियों के कारण भी ध्वनियों में परिवर्तन होता है। कुछ विद्वानों के अनुसार शीतप्रधान देशों की ध्वनियाँ संवृत्ति की ओर तथा ग्रीष्म प्रधान प्रदेशों की ध्वनियाँ विवृत्ति की ओर अग्रसर रहती हैं। इसके अतिरिक्त अपनी उर्वरता तथा व्यापारिक सुविधाओं आदि के कारण तथा सम्पर्क के न्यूनाधिक होने के कारण भी भाषा में परिवर्तन होता है।

२. **ऐतिहासिक परिस्थितियाँ या काल-प्रभाव**—इतिहास घटनाओं (भौतिक घटनाओं) की पुनरावृत्ति करता है। इन भौतिक घटनाओं के परिमाण-स्वरूप शब्दावली का आदान-प्रदान होता है। इस आदान-प्रदान में ध्वनि-परिवर्तन भी स्वाभाविक ही है। द्रविड़ों के सम्पर्क से मूर्धन्य तथा मुगलों के सम्पर्क से क़, ग़, ख़, ज़ आदि ध्वनियाँ हिन्दी को प्राप्त हुईं।

समस्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि ये ध्वनि-परिवर्तन प्रयत्नलाघव या मुख-सुख के कारण अधिक होते हैं, इसके साथ ही कुछ बाह्य कारण भी इसमें सम्मिलित होते हैं। एक कारण के साथ अनेक अन्य कारण भी कार्यरत हो सकते हैं।

(१९) **प्रश्न**—ध्वनि-परिवर्तन की दिशाओं और प्रकारों पर सोदाहरण प्रकाश डालिए।

उत्तर—ध्वनि-परिवर्तन जिन कारणों से होता है, उनके द्वारा किये गए कार्य ध्वनि-परिवर्तन के स्वरूप कहलाते हैं। ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी

अनेक दिशाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, जिनमें प्रमुख दिशाएँ निम्न हैं—१. आगम, २. लोप, ३. विपर्यय, ४. शब्दांश-विपर्यय, ५. समीकरण, ६. विषमीकरण, ७ मात्राभेद, ८. सघोषीकरण, ९. अघोषीकरण, १०. महाप्राणीकरण, ११. अल्पप्राणीकरण, १२. ऊष्मीकरण, १३. अनुनासिकीकरण, १४. सन्धि तथा १५. भ्रामक व्युत्पत्ति।

इनको निम्न प्रकार से सोदाहरण स्पष्ट किया जा रहा है—

१. **आगम**—किसी शब्द में पहले से अविद्यमान किसी नई ध्वनि (स्वर, व्यञ्जन या अक्षर) का शब्द के आदि, मध्य या अन्त में जुड़ जाना आगम कहलाता है। उदाहरणार्थ—संस्कृत स्त्री शब्द का प्राकृत रूप इत्थी। यहाँ 'इ' स्वर ध्वनि का आदि में आगम हुआ है, अतः इसे आदिस्वरागम कहते हैं। इसी प्रकार स्वर्ण से सुवर्ण, पृथ्वी से पृथिवी आदि मध्यस्वरागम या स्वर-भक्ति के उदाहरण हैं। ओष्ठ से होठ, शाप से श्राप, वधू से वधूटी आदि क्रमशः आदि, मध्य और अन्त में व्यञ्जन के आगम के उदाहरण हैं।

२. **लोप**—आगम के विपरीत किसी शब्द के आदि, मध्य या अन्त में पहले से विद्यमान ध्वनि (स्वर, व्यञ्जन या अक्षर) का बाद में लुप्त हो जाना लोप कहलाता है। उदाहरणार्थ - स्नेह से नेह, यहाँ स् व्यञ्जन ध्वनि का लोप हो गया है। आभ्यन्तर से भीतर में आदि-स्वरलोप, जनता से जन्ता में मध्य-स्वरलोप, दूर्वा से दूब, भगिनी से बहिन अन्त्य-स्वरलोप, सूची से सुई मध्य-व्यञ्जनलोप के उदाहरण हैं।

३. **विपर्यय**—जब किसी शब्द में न तो ध्वनि का आगम होता है और न लोप, अपितु शब्द में विद्यमान ध्वनियाँ परस्पर स्थान बदल लेती हैं, तो वह विपर्यय कहलाता है। उदाहरणार्थ–मतलब से मतबल, पागल से पगला और लखनऊ से नखलऊ आदि।

४. **शब्दांश-विपर्यय**—ध्वनि-विपर्यय के साथ भाषा में शब्दांश-विपर्यय के उदाहरण भी मिलते हैं। जैसे—ओखल-मूसल के स्थान पर मूखल-ओसल या दाल-चावल के स्थान पर चाल-दावल। अंग्रेजी में इसे स्पूनरिज्म कहते हैं।

५. **समीकरण**—जब शब्द में साथ-साथ विद्यमान दो भिन्न-भिन्न ध्वनियों में से एक अधिक शक्तिशाली होने के कारण दूसरी को अपने समान बना लेती है, तब यह दो ध्वनियों का समीकरण कहा जाता है। उदाहरण के लिए संस्कृत अग्नि प्राकृत अग्गि (आग) तथा वल्कल से बक्कल आदि।

यह समीकरण भी स्वर तथा व्यञ्जन की दृष्टि से दो प्रकार का होता है। साथ ही जहाँ पूर्व ध्वनि बाद वाली ध्वनि को अपने समान बनाती है, वहाँ समीकरण पुरोगामी कहा जाता है और जहाँ बाद वाली ध्वनि पूर्व ध्वनि को अपने समान बना लेती है, वहाँ समीकरण पश्चगामी कहा जाता है।

६. **विषमीकरण**—समीकरण के विपरीत जब शब्द में साथ-साथ आनेवाली दो समान ध्वनियाँ असमान हो जाती हैं, तब उसे ध्वनियों का विषमीकरण होना कहा जाता है। उदाहरणार्थ—कंकण से कंगन। स्वर, व्यञ्जन तथा पुरोगामी, पश्चगामी भेद से यह चार प्रकार का होता है।

७. **मात्राभेद**—जब शब्द में विद्यमान कोई ह्रस्व मात्रा बाद में दीर्घ या दीर्घ मात्रा बाद में ह्रस्व हो जाती है, तब उसे मात्रा-भेद कहा जाता है। जैसे—संस्कृत पुत्र से हिन्दी पूत (दीर्घीकरण), आषाढ़ से अषाढ़ ह्रस्वीकरण आदि।

८· **सघोषीकरण**—जब शब्द में विद्यमान कोई अघोष ध्वनि बाद में सघोष हो जाय, वहाँ सघोषीकरण होता है। जैसे—शकुन से सगुन या शाक से साग।

९. **अघोषीकरण**—सघोषीकरण के विपरीत जब शब्द में पहले से विद्यमान कोई सघोष ध्वनि अघोष ध्वनि में हो जाए, तो वहाँ अघोषीकरण होता है। यथा—फारसी मदद से हिन्दी मदत।

१०. **महाप्राणीकरण**—जब शब्द में विद्यमान कोई अल्पप्राण ध्वनि, बाद में महाप्राण हो जाए। जैसे—संस्कृत गृह से घर, परशु से फरसा, वेष से भेष आदि।

११. **अल्पप्राणीकरण**—महाप्राणीकरण के विपरीत जब शब्द में विद्यमान कोई महाप्राण ध्वनि बाद में अल्पप्राण हो जाए; जैसे—सिन्धु से हिन्दु, भगिनी से बहिन आदि।

१२. **ऊष्मीकरण**—जब ध्वनि पहले ऊष्म नहीं रही हो, किन्तु बाद में ऊष्म हो जाए। जैसे—केन्तुम् वर्ग की भाषाओं में क् ध्वनि शतम् वर्ग की भाषाओं में श या स् हो गई है।

१३. **अनुनासिकीकरण**—जब ध्वनियाँ पहले अनुनासिक नहीं रहीं हों, किन्तु बाद में अनुनासिक हो जाएँ; जैसे—संस्कृत सर्प से साँप, श्वास से साँस, अश्रु से आँसू आदि।

१४. **सन्धि**—जब दो ध्वनियाँ परस्पर मिल जाती हैं, अर्थात् सन्धि रहित ध्वनियों में सन्धि हो जाती है। जैसे—अवतार>अउतार>औतार, बहिन> बइन>बैन आदि। इसी प्रकार जब दो शब्द एक-दूसरे के बाद उच्चरित होते हैं, तो प्रथम शब्द की अन्तिम तथा द्वितीय शब्द की आदि ध्वनियों में भी सन्धि हो जाती है। जैसे—रमा + ईशः = रमेशः आदि।

सन्धि के तीन भेद हैं—१. अच् (स्वर) सन्धि, २. हल् (व्यञ्जन) सन्धि तथा ३. विसर्ग सन्धि। लोप, आगम, विकार एवं प्रकृतिभाव रूप में सन्धि की चार दिशाएँ हैं।

१५. **भ्रामक व्युत्पत्ति**—अज्ञानतावश किसी अन्य भाषा के शब्दों को अपनी भाषा में मनमाने ढंग से गढ़ते हुए उसमें अपनी भाषा की ध्वनियों का प्रयोग करना। जैसे—अरबी-इन्तकाल से हिन्दी अन्तकाल। अंग्रेजी लॉर्ड से हिन्दी लाट आदि।

इनके अतिरिक्त अन्य कई प्रकार से भी ध्वनि-परिवर्तन होते हैं, किन्तु उपर्युक्त ही महत्त्वपूर्ण हैं। प्रायः भाषा-वैज्ञानिकों ने इन्हीं दिशाओं का उल्लेख किया है।

(२०) **प्रश्न**—ध्वनि-नियम से आप क्या समझते हैं ? ग्रिमकृत ध्वनि-नियम का वर्णन करते हुए उसमें किये गए परिवर्तनों पर प्रकाश डालिए।

(अथवा)

ग्रिमकृत ध्वनि-नियम का प्रतिपादन करते हुए उनके संशोधनों का स्पष्टीकरण कीजिए।

उत्तर—विभिन्न भाषाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनमें समय-समय पर कुछ परिवर्तन होते रहते हैं। ये परिवर्तन भाषा की परिवर्तन-शीलता के कारण होते हैं। इन परिवर्तनों को नियम की सीमा में बाँधने का प्रयत्न किया गया है। ऐसे नियमों को ध्वनि-नियम नाम दिया गया है।

किसी भाषा-विशेष में, किसी काल-विशेष में कुछ विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत हुए विशेष प्रकार के ध्वनि-परिवर्तनों को ध्वनि-नियम कहते हैं। इन ध्वनि-नियमों में प्रमुख नियम निम्न हैं—

१. ग्रिम-नियम।

२. ग्रासमान-नियम।

३. वर्नर-नियम ।

४. तालव्य-नियम ।

५. मूर्धन्य-नियम ।

ग्रिम, ग्रासमान और वर्नर नियम मूलभारोपीय भाषा से सम्बद्ध हैं । इन नियमों में मूलभारोपीय भाषा की ध्वनियों में परिवर्तन का वर्णन है ।

ग्रिम-नियम—यह ध्वनि-नियम प्रो० याकोब ग्रिम के नाम से प्रसिद्ध है । इन्होंने १८१९ में जर्मन भाषा का व्याकरण प्रकाशित किया । सन् १८२२ में उसके दूसरे संस्करण में इस नियम का विवेचन किया । इस नियम का सम्बन्ध भारोपीय स्पर्शों से है, जो जर्मन भाषा में परिवर्तित हो गये थे । इसे जर्मन भाषा का वर्ण-परिवर्तन भी कहते हैं । इसके लिए जर्मन शब्द Lautversehiebung है । जर्मन भाषा का यह वर्ण-परिवर्तन दो बार हुआ । प्रथम वर्ण-परिवर्तन ईसा से कई सदी पूर्व हुआ था और दूसरा वर्ण-परिवर्तन उत्तरी जर्मन लोगों से ऐंग्लो सैक्सन के पृथक् होने के बाद लगभग ७वीं सदी में हुआ । दोनों ही का कारण जातीय मिश्रण कहा जाता है ।

प्रथम वर्ण-परिवर्तन—इसका प्रभाव समान रूप से गाथिक, निम्न जर्मन, अंग्रेजी और डच आदि भाषाओं पर पड़ा है । भारोपीय मूलभाषा की व्यन्जन ध्वनियाँ संस्कृत, लैटिन, ग्रीक आदि में सुरक्षित हैं । अंग्रेजी का उद्भव निम्न जर्मन से है । अतः इसके द्वारा संस्कृत और अंग्रेजी की तुलना से यह परिवर्तन स्पष्ट हो जाता है । इस वर्ण-परिवर्तन में एक ओर संस्कृत, लैटिन, ग्रीक तथा स्लावोनिक भाषाएँ हैं, जिनमें मूल ध्वनि सुरक्षित है । दूसरी ओर गाथिक, निम्न जर्मन, अंग्रेजी, डच आदि भाषाएँ हैं, इनमें परिवर्तन निम्न प्रकार हुआ है ।

१. भारोपीय मूल भाषा के घोष महाप्राण स्पर्श घ्, ध्, भ्—जर्मनिक में घोष अल्पप्राण ग्, द्, ब् हो जाते हैं ।

२. भारोपीय मूल भाषा के अल्पप्राण ग्, द्, ब्—जर्मनिक में अघोष अल्पप्राण क्, त्, प् हो जाते हैं ।

३. भारोपीय मूलभाषा के अघोष अल्पप्राण क्, त्, प्—जर्मनिक में संघर्षी अघोप महाप्राण ख् (ह्), थ्, फ् हो जाते हैं ।

विद्यार्थियों की सुविधा हेतु भारोपीय की संस्कृत और जर्मनिक की प्रतिनिधि अंग्रेजी को लेकर उदाहरणों द्वारा निम्न प्रकार स्पष्ट किया है—
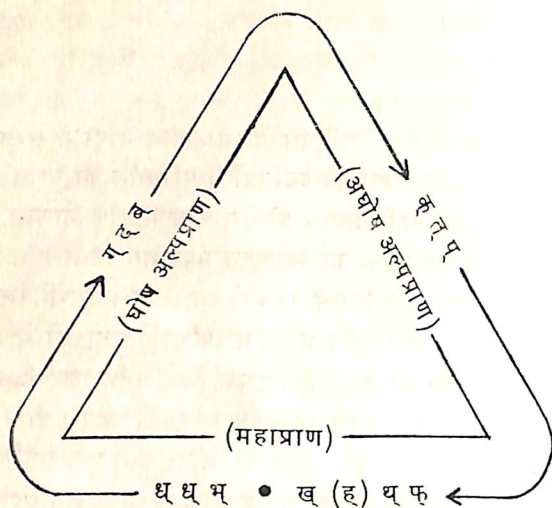
	भारोपीय (संस्कृत)	जर्मनिक (अंग्रेजी)
प्>फ्	पितृ	फ़ादर (Father)
	पद	फुट (Foot)
त्>थ्	त्रि	थ्री (Three)
	तनु	थिन (Thin)
	दन्त	टूथ (Tooth)
क्>ख् (ह्)	कपाल	हैड (Head)

ये ध्वनियाँ अन्य भाषाओं की अघोष व्यञ्जन ध्वनियाँ जर्मनी की अघोष संघर्षी ध्वनियों के समानान्तर हैं। इसी प्रकार—

ध् (ह)>ग्	हंस	गूस (Goose)
ध्>द्	विधवा	विडो (Widow)
भ्>ब	भ्रातृ	ब्रादर (Brother)

यहाँ पर महाप्राण घोष ध्वनियों का अल्पप्राण घोष ध्वनियों में परिवर्तन हुआ है।

इसी प्रकार से—

भारोपीय (संस्कृत)		जर्मनिक (अंग्रेजी)
ग्>क्	गौ	काउ (Cow)
द्>त् (ट्)	द्वौ	टू (Two)

स्वेद	स्वेट (Sweat)
दश	टेन (Ten)

द्वितीय ध्वनि-परिवर्तन—द्वितीय वर्ण या ध्वनि-परिवर्तन में जर्मनिक की ही दो शाखाओं में हुआ, जिन्हें उच्च एवं निम्न जर्मन कहा जाता है, जब कि प्रथम में भारोपीय से जर्मनिक भाषाओं का परिवर्तन था। इस ध्वनि-परिवर्तन में क्रमशः ग द् ब् का क् त् प्, क् त् प् का ख् थ् फ् और ख् थ् फ् का ग् द् ब् हो जाता है।

	निम्न जर्मन (अंग्रेजी)	**उच्च जर्मन** (आधुनिक जर्मन)
क् > ख्	वुक (Book)	बुख (Buch)
	योक (Yoke)	योख(Joch)
त् > थ् वा स्	वाटर (Water)	ह्वासेर (Wasser)
प् > फ्	डीप (Deep)	टीफ Tief)
थ् > द्	थ्री (Three)	द्रेइ (Drei)
ड् > ट्	डीड (Deed)	टाट (Tat)

प्रो० ग्रिम ने इस ध्वनि-परिवर्तन के कुछ अपवादों का उल्लेख किया हैं, इनमें मुख्य ये हैं—

(१) क् त् प् से पूर्व स् (S) संयुक्त होने पर Sk, St, Sp.

(२) त् से पूर्व क् या प् संयुक्त होने पर Kt, Pt.

ऐसे संयुक्त व्यञ्जन वाले स्थलों पर ध्वनि-परिवर्तन नहीं होता। उदा०—

ध्वनि	लैटिन	गाथिक	अर्थ
Sk, स्क	Piscis, पिस्किस	Fisks फिस्क्स	मछली
St, स्त	Est एस्ट	Ist इस्ट	है
Kt, क्त	Octo ओक्टो	Acht आख्ट	आठ
Pt, प्त	Captus काप्टुस	Hafts हाफ्ट्स	रोका

जर्मनिक या ट्यूटानिक की सबसे प्राचीन भाषा गाथिक है। इससे ही उच्च जर्मन, निम्न जर्मन, अंग्रेजी आदि निकली हैं।

ग्रासमान-नियम—हेमनि ग्रासमान भी जर्मन विद्वान् हैं। इन्होंने ग्रिम-नियम को संशोधित किया है और उसकी त्रुटियों का निराकरण किया है। निम्नलिखित उदाहरणों में ग्रिम-नियम के अनुसार ब् को प् और द्>त् होना चाहिए था, किन्तु गाथिक में भी ब् और द् ही मिलते हैं।

संस्कृत	गाथिक
बोधति	Biudan बिउदान
दभ्	Daubs दाउब्स

प्रो० ग्रासमान ने संस्कृत और ग्रीक भाषाओं की परीक्षा करने पर यह पता लगाया कि संस्कृत और ग्रीक भाषाओं में दो अव्यवहित सोष्म ध्वनियों में से सामान्यतया प्रथम ऊष्म ध्वनि (ह् ध्वनि) निकल जाती है। जहाँ पर द्वितीय वर्ण से ऊष्म ध्वनि निकलती है, वहाँ पर प्रथम वर्ण में ऊष्म ध्वनि आ जाती है। ग्रासमान ने इसका कारण स्पष्ट करते हुए बतलाया कि भारोपीय भाषाओं में दो महाप्राण ध्वनियाँ एक साथ नहीं रह सकती है और उनमें प्रथम अल्प-प्राण बन जाती है। उदाहरण के लिए संस्कृत की 'हु' (हवन करना) धातु का हुहोति रूप बनना चाहिए था, किन्तु बना दधाति। इन दोनों में प्रथम अक्षर अल्पप्राण हो गए हैं। इस प्रकार जहाँ कहीं भी ग्रिम-नियम के अपवाद मिलते हैं, वहाँ ऐसी ही स्थिति रहती है कि दो महाप्राण में प्रथम अल्पप्राण बन जाता है या हो जाता है। संस्कृत, ग्रीक आदि भाषाओं का यह नियम जर्मन भाषा पर भी लागू होता है और जहाँ स्वतन्त्र रूप में ग् द् ब् होता है, वहाँ क् त् प् हो जाता है।

इस प्रकार से ग्रिम-नियम के अपवादों का एक सीमा तक निराकरण ग्रैसमैन ने किया, किन्तु सभी अपवादों का समाधान इनके द्वारा भी नहीं हो पाया और इस प्रकार के असमाधानित अपवादों को दूर करने का कार्य केलवर्नर या फेर्नर महोदय ने किया।

वर्नर के नियमानुसार मूल भारोपीय भाषा के शब्दों के क् त् प् को जर्मनिक भाषाओं में ह थ फ् तभी होता है, जब मूल भाषा में अव्यवहित पूर्व कोई उदात्त स्वर होता है। यदि उदात्त स्वर क् त् प् के बाद होगा तो इनके स्थान पर क्रमशः ग् द् ब् होते हैं।

(२१) **प्रश्न**—अर्थ-परिवर्तन से आप क्या समझते हैं ? अर्थ-परि-वर्तन की दिशाओं का निर्देशन कीजिए।

उत्तर—भाषा के अध्ययन से यह पता चलता है कि अर्थ में सदैव परि-वर्तन होता रहता है। अर्थ से अभिप्राय है—किसी भाषिक इकाई को किसी भी इन्द्रिय से ग्रहण करने पर जो मानसिक प्रतीति होती है, वही अर्थ है।

जिस प्रकार ध्वनि, पद, वाक्य और किसी भाषा के शब्द आकार में परिवर्तन होता है, उसी प्रकार अर्थ-परिवर्तन भी होता रहता है। हर एक सार्थक शब्द अपने साथ एक विशेष अर्थ रखता है, किन्तु वह व्यक्ति, स्थान, काल एवं परिस्थितियों के अनुसार अर्थ बदलता रहता है। इसी को हम अर्थ-परिवर्तन या अर्थ-विकास की संज्ञा से अभिहित करते हैं। तेल शब्द का प्रयोग आज बहुतायत से किया जा रहा है, किन्तु इसका प्रयोग आरम्भ में 'तिल' से निकले रस के लिए किया जाता होगा और आज न केवल तिल, सरसो या नारियल का तेल मिलता है, अपितु मिट्टी के तेल और मछली के तेल के अतिरिक्त मनुष्य का तेल भी निकाला जाता है। इस प्रकार यहाँ पर तेल शब्द के अर्थ का विस्तार हुआ है। इसी प्रकार कुछ शब्द पहले सीमित अर्थ में प्रयुक्त होते थे, किन्तु धीरे धीरे विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त होने लगे, अर्थात् उनसे अर्थ प्रतीति का क्षेत्र बढ़ गया, अर्थात् अर्थ-विस्तार हो गया। इसके विपरीत शब्दों का अर्थ बड़े या व्यापक क्षेत्र से (अर्थ प्रतीति की दृष्टि से) सीमित क्षेत्र या अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।

इन्हीं आधारों पर अर्थ-परिवर्तन की निम्नलिखित तीन दिशाएँ विद्वानों ने बतलाई हैं—

१. अर्थ-विस्तार।
२. अर्थ-संकोच।
३. अर्थादेश।

अर्थ-परिवर्तन किन-किन दशाओं में होता है, अथवा उसके कितने प्रकार होते हैं, इस विषय पर सबसे पहले फ्रांसीसी भाषाविज्ञान-वेत्ता ब्रील ने विचार किया था। अब हम अर्थ-परिवर्तन की उपर्युक्त तीन प्रमुख दिशाओं पर प्रकाश डालेंगे—

१. अर्थ-विस्तार—अर्थ-विस्तार का अर्थ है अर्थ का सीमित क्षेत्र से निकलकर विस्तार पा जाना। उदाहरण के लिए संस्कृत का एक शब्द है तैल, जिसका मूल अर्थ है 'तिल का रस'। अर्थात् संस्कृत में मूलतः 'तिल के तेल' को तेल कहते थे। यही इसका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ था। हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं का तेल इसी तैल से विकसित है, किन्तु इसका अर्थ विस्तृत हो गया है। अब तिल, सरसों, अलसी, गरी अथवा गोला, या मूँगफली का ही नहीं

अपितु मछली का तेल, साँप का तेल, मिट्टी का तेल आदि इस प्रकार तेल का अर्थ-विस्तार हो गया। 'सब्ज' का अर्थ है 'हरा'। पहले पालक, चौलई, भिंडी, आदि हरी तरकारियों को उनके रंग के आधार पर सब्जी कहते थे। अब सब्जी के अर्थ का विस्तार हो गया है और सभी रंगों की सब्जियाँ 'सब्जी' कहलाने लगी हैं। व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के अर्थ भी विस्तृत हो जाते हैं। जैसे—विभीषण, मन्थरा, नारद, जयचन्द, हिटलर आदि का प्रयोग भी इसी प्रकार है। इसी प्रकार कुशल मूल अर्थ कुश लाने या उखाड़ने में चतुर—कुशान्, लाति, अब किसी भी काम में चतुर अथवा पटु आदि के लिए प्रयुक्त होती है।

२. **अर्थ-संकोच**—यह अर्थ-विस्तार का ठीक उलटा है। इसमें अर्थ की परिधि पहले विस्तृत रहती है, फिर संकुचित हो जाती है। उदाहरण के लिए संस्कृत शब्द 'मृग' का मूल अर्थ पशु है। शिकार का वाचक 'मृगया' तथा पशुओं के राजा सिंह के लिए मृगराज के प्रयोग में मूल और सभी पशुओं का वाचक शब्द मृग केवल 'हिरन' का वाचक हो गया। अर्थ-संकोच में अर्थ सामान्य से परिवर्तित होकर विशेष हो जाता है। 'मृग' सामान्य पशु से विशेष पशु हो गया। इसी प्रकार जलज मूलतः जल में उत्पन्न वस्तु का वाचक रहा होगा, पंकज पंक में जनमने वाली प्रत्येक वस्तु थी, किन्तु बाद में अर्थ-संकोच हुआ और ये दोनों शब्द केवल कमल के वाचक रह गये। इसी प्रकार मन्दिर शब्द किसी युग में भवन मात्र का द्योतक था, किन्तु अब केवल इस शब्द का प्रयोग देवालय के अर्थ में किया जाने लगा, जो अर्थ-संकोच के ही कारण है।

उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि शब्दों का अर्थ व्युत्पत्ति के आधार पर ही नहीं होता, अपितु वह विशेष रूप से प्रवृत्ति के आधार पर ही होता है।

३. **अर्थादेश**—अर्थादेश का अर्थ है—एक अर्थ के स्थान पर दूसरे अर्थ का आ जाना।

आदेश का अर्थ है—एक को हटाकर दूसरे का आना। जब कि अर्थादेश में शब्द का प्राचीन अर्थ लुप्त हो जाता है और नया अर्थ आ जाता है। जैसे—

असुर—मूल अर्थ असु+र (प्राणशक्ति-सम्पन्न) देवता था। बाद में सुर (देवता) का उलटा अ+सुर (राक्षस) अर्थ हो गया।

वर—मूल अर्थ 'श्रेष्ठ' था। अब केवल दूल्हा अर्थ में रह गया है।

मौन—मूल अर्थ मुनि-कर्म या मुनियों का आचरण था। अब चुप रहना अर्थ रह गया है।

आकाशवाणी—देवताओं की वाणी के लिए था, जो अब All India Radio के लिए प्रयुक्त होता है।

साहस—साहस का प्राचीन अर्थ चोरी, डकैती आदि था। अब इसका प्रयोग उत्साहपूर्ण कार्य के अर्थ में होता है।

शब्दों के अर्थ-परिवर्तन में कुछ शब्दों का अर्थ पहले भद्दा रहता है, बाद में अच्छा हो जाता है, इसे अर्थोत्कर्ष कहते हैं। यथा—कर्पट पहले चिथड़े के अर्थ में प्रयुक्त होता था, किन्तु अब इसका विकसित शब्द कपड़ा तथा कीमती से कीमती वस्त्र पर्यायवाची रूप में हो गया। इसी प्रकार साहस एवं मन्दिर शब्दों को भी लिया जा सकता है।

अर्थापकर्ष—यह अर्थोत्कर्ष का विपरीत होता है। जब शब्द का अच्छा अर्थ पीछे रह जाए और वह पहले की अपेक्षा निकृष्ट अर्थ में प्रयोग होने लगे, तो अर्थापकर्ष कहलाता है। उदाहरणार्थ—असुर शब्द पहले देवता का वाचक था, परन्तु अब राक्षस के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

इस प्रकार अर्थ-परिवर्तन मुख्य रूप से तीन दशाओं—१. अर्थ-विस्तार, २. अर्थसंकोच और ३. अर्थादेश में होता है। यह परिवर्तन अच्छे और बुरे को ध्यान में रखकर क्रमशः अर्थोत्कर्ष और अर्थापकर्ष, इन दो दशाओं में होता है। यह परिवर्तन के आधार पर न होकर लोकव्यवहार पर आधृत है।

(२२) प्रश्न—अर्थ-परिवर्तन के कारणों पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

उत्तर—अर्थ या शब्दार्थ यद्यपि काल्पनिक एवं सांकेतिक हैं, परन्तु अर्थ-बोध का सीधा सम्बन्ध मन से है। मानव मन गतिशील, चंचल, संवेदनशील एवं नवीनता का प्रेमी है। अतः विभिन्न परिस्थितियों में मानव मन की स्थिति एक-सी नहीं होती है। इसी कारण से राग-द्वेष, क्रोध, घृणा, आवेश आदि में उच्चरित शब्दों के अर्थों में अन्तर होता है। यह अर्थ-परिवर्तन प्रारम्भ में व्यक्तिगत होता है, परन्तु बाद में समाज में स्वीकृत होकर भाषा में ग्रहण कर लिया जाता है। अर्थ-परिवर्तन एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है।

मन की स्थितियों का भौतिक विश्लेषण नहीं किया जा सकता है। अतः अर्थ-परिवर्तन के कारणों की इयत्ता निर्धारित करना संभव नहीं। कभी-कभी

तो अर्थ-परिवर्तन में एक के साथ दूसरा कारण की सम्बद्ध होता है। भारतीय काव्यशास्त्रियों—आचार्य मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने अर्थभेद या अर्थ-परिवर्तन के कारण रूप में लक्षणा और व्यंजना शब्दशक्तियों का सूक्ष्मतम विवेचन किया है।

पाश्चात्य विद्वानों में प्रो० टकर एवं मिशेल, ब्रेआल आदि ने इनका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है। डॉ० तारापुरवाला ने अपनी पुस्तक 'Elements of the Science of Language' में प्रो० टकर के अनुसार अर्थ-परिवर्तन के १२ कारण माने हैं—

१. लाक्षणिक प्रयोग।

२. परिवर्तन का परिवर्तन—(क) भौगोलिक, (ख) सामाजिक और (ग) भौतिक।

३. विनम्रता प्रदर्शन।

४. सुश्रव्यता।

५. व्यंग्य।

६. भावात्मक बल।

७. सामान्य के लिए विशेष का प्रयोग।

८. अज्ञान अथवा भ्रान्ति।

९. शब्दार्थ की अन्तर्निहित अनिश्चितता।

१०. व्यक्ति के अनुसार शब्दों के प्रत्यय (काँसेप्ट) में भेद।

११. शब्दार्थ के एक तत्त्व की प्रमुखता।

१२. गौण अर्थ की प्रमुखता।

उपर्युक्त सभी कारण लक्षणा पर ही आधारित हैं। इसके अतिरिक्त भी कई अन्य कारण हैं, जो अर्थ-परिवर्तन में सहयोग देते हैं। जैसे—बल का अपसरण, पीढ़ी-परिवर्तन, अन्य विभाषा से शब्दों का उधार लेना आदि। प्रमुख कारणों पर संक्षेप में विचार इस प्रकार है—

१. लाक्षणिक प्रयोग—भावों और अनुभूतियों की सरल, सुन्दर एवं कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए लक्षणा शक्ति का आश्रय लिया जाता है। इससे भाषा में रोचकता एवं मधुरता आ जाती है। इसके लिए अनेक प्रकार के शब्द अपनाये जाते हैं। जैसे—सादृश्यमूलक प्रयोग अर्थात् निर्जीव में भी मानवीय

अंगों का आरोप, नारियल की आँख, आरी के दाँत, सुराही की गर्दन, घड़े का मुँह, पर्वत की चोटी, गुफा का पेट आदि।

गुणसाम्य के आधार पर भी इस तरह के प्रयोग होते हैं। यथा—सुन्दर कल्पना, कटु अनुभव, मधुर लय, मीठी मुस्कान, सरस साहित्य, नीरस भाषण, चटपटी बात आदि। इसी तरह डरपोक को गीदड़, महामूर्ख को गधा, भोले-भाले को बैल या गाय, दुर्जन को बिच्छू आदि।

२. **परिवेश अथवा वातावरण में परिवर्तन**—परिवेश में परिवर्तन हो जाने पर अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। यह परिवेश भेद अनेक प्रकार का हो सकता है—

(क) **भौगोलिक परिवेश-भेद**—वेद में उष्ट्र शब्द 'भैंसा' के अर्थ में है, परन्तु बाद में उष्ट्र का प्रयोग ऊँट के अर्थ में होने लगा। इसका कारण आर्यों का भौगोलिक स्थान-परिवर्तन ज्ञात होता है। Corn (कार्न) शब्द के विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अर्थ हैं—इंगलैण्ड में गेहूँ, स्काटलैण्ड में बाजरा, अमेरिका में मक्का। इसी प्रकार ठाकुर शब्द का प्रयोग कहीं क्षत्रिय, कहीं रसोइया, कही नाई, तो कहीं ईश्वर के लिए होता है।

(ख) **सामाजिक परिवेश-भेद**—समाज में परिवेश के भेद से अंग्रेजी के मदर, सिस्टर, फादर, ब्रदर आदि शब्द विभिन्न सामाजिक वातावरण में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। परिवार में ये माता, बहिन, पिता और भाई के अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार अस्पताल में मदर मैट्रन के लिए, सिस्टर नर्स के लिए, रोमन कैथोलिक चर्च में फादर पादरी के लिए और ब्रदर सहयोगी पादरी के लिए। हिन्दी में इसी प्रकार भाई शब्द साथी, मित्र, हितैषी, दुकानकार, नौकर आदि का बोधक है।

(ग) **भौतिक वातावरण**—ज्यों-ज्यों भौतिक उन्नति होती जाती है, वस्तुओं के नाम में भी परिवर्तन होते जाते हैं। गिलास शब्द अंग्रेजी के सम्पर्क से आया जो काच का बना होता था, किन्तु आज पीतल, काँच, चाँदी, कलई आदि सभी गिलास के नाम से जाने जाते हैं। इसके अतिरिक्त रीति-रिवाज, रस्म आदि परिवेश के परिवर्तन से भी अर्थ-परिवर्तन हो जाता है।

३. **विनम्रता प्रदर्शन**—अर्थ-परिवर्तन के कारणों में यह भी एक कारण है। उदाहरण के लिए—यदि कोई किसी से पूछता है कि आपका दौलतखाना

कहाँ है, तो दौलतखाने का अर्थ धन का भण्डार न होकर घर से ही है। जापानी भाषा में इस तरह के सर्वाधिक शब्द हैं।

४. **सुश्रव्यता**—सुश्रव्यता का अर्थ है, जो सुनने में अच्छा लगे। भाषा भावों के सम्प्रेषण का माध्यम मात्र ही नहीं है, अपितु वह मनुष्य के संस्कार, विश्वास और सुरुचि की अभिव्यक्ति का साधन भी है। अतः देशकाल एवं परिस्थितियों को ध्यान में रखकर भाषा का प्रयोग किया जाता है।

(क) **अशुभ या बुरा**—अशुभ कार्यों, घटनाओं या बातों को हम घुमा-फिरा कर ही कहते हैं। जैसे किसी के मर जाने पर—गंगा लाभ करना, स्वर्गवासी होना या पंचतत्त्व को प्राप्त होना आदि कहा जाता है।

(ख) **अश्लील**—अश्लील को छिपाने के लिए भी इसी तरह का प्रयोग करते हैं। उदाहरण के लिए—पाखाना जाने के लिए—मैदान जाना, दिशा जाना, नदी जाना आदि कहते हैं।

(ग) **कटुता या भयंकरता**—साँप को कीड़ा या रस्सी कहा जाना, इसी तरह का प्रयोग है। चेचक को माई या माता कहते हैं।

(घ) **अंधविश्वास**—कई सभाओं में पति, पत्नी, गुरु, बड़े लड़के का नाम लेना पाप समझा जाता है। अतः दूसरे सम्बोधनों से उन्हें पुकारा जाता है। इसी प्रकार छोटे कार्य के लिए अच्छे शब्दों का प्रयोग किया जाता है। जैसे—भंगी को जमादार कहा जाता है।

५. **व्यंग्य** - इसको काव्यशास्त्र के अनुसार विपरीत लक्षणा कहते हैं। किसी पर आक्षेप करने या व्यंग्य करने में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जो उससे सर्वथा उल्टा अर्थ बतलाते हैं। जैसे—मूर्ख को बृहस्पति, झूठे को युधिष्ठिर, डरपोक को सिंह कहा जाता है। 'ऊधो तुम अति चतुर सुजान' यहाँ गोपियों ने 'चतुर' एवं 'सुजान' को विपरीत अर्थ में लिया है। अतः यहाँ इसका अर्थ होगा—'तुम महा अज्ञानी एवं बुद्धिहीन हो, जो हम जैसी अबलाओं को निर्गुण ब्रह्म एवं योग का ज्ञान देने का प्रयास कर रहे हो'। अन्य मुहावरों में भी इसका प्रयोग देखा जा सकता है। जैसे—तीन हाथ की बुद्धि वाला, अक्ल का खजाना, अक्ल की पुड़िया, पूरा पंडित।

६. **भावात्मक बल**—भावावेश में बहुत से शब्दों के विषय में हम असावधान हो जाते हैं और बहुधा बढ़ा-चढ़ाकर या विचित्र अर्थ में प्रयोग करते हैं। जैसे—प्यार से बच्चे को पुचकारते समय 'अरे तू बड़ा पाजी है'। कहने का

तात्पर्य बुरे से नहीं होता। इसी प्रकार लोग प्रेम में शैतान, नालायक, बेहूदा आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार उसकी बात सुनकर कलेजा मुँह को भर आया' वाक्य में भी भावात्मकता परिलक्षित होती है।

७. **सामान्य के लिए विशेष का प्रयोग**—कभी-कभी एक वर्ग के लिए उसकी किसी एक वस्तु के नाम का प्रयोग होने लगता है। उदाहरण के लिए—सब्जी का प्रयोग सभी तरकारियों के लिए किया जाता है, 'पैसे वाले' का प्रयोग धनवान् के लिए किया जाता है और 'जलपान' का अर्थ केवल पानी पीना न होकर अल्पाहार ही होता है।

८. **अज्ञान अथवा भ्रान्ति**—कभी-कभी अज्ञानावस्था में शब्दों के प्रयोगों में अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। ऐसा कभी-कभी भ्रान्ति के कारण भी होता है। उदाहरण के लिए—हू कम्स देयर (Who comes there) के लिए 'हुकुम सदर' हो गया। आर्ट कालेज के लिए आट कालेज हो गया। सादृश्य के कारण भी कुछ गलतियाँ हो जाती हैं।

९. **शब्दार्थ की अन्तर्निहित अनिश्चितता**—कुछ भाषाओं में कुछ शब्दों के अर्थ निश्चित नहीं होते और अमूर्त भावों के वाचक शब्द प्राय: इस कोटि में आते हैं। इन शब्दों के अर्थ में जो सहज अस्पष्टता रहती है, वह अर्थबोध में बाधक होती है। उदाहरण के लिए—अनुकम्पा, दया और कृपा के भेद को सहजता से साफ नहीं किया जा सकता है और इन शब्दों में प्रयोक्ता बहुधा त्रुटि कर जाते हैं।

१०. **व्यक्ति के अनुसार शब्दों के प्रत्यय में भेद**—व्यक्तिगत योग्यता के आधार पर भी शब्दों के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। 'ब्रह्म' का अर्थ ज्ञानी के लिए कुछ, पढ़े-लिखे के लिए कुछ और अनपढ़ के लिए कुछ और ही होता है।

११. **शब्दार्थ के एक तत्त्व की प्रमुखता**—कभी-कभी शब्द के एक अर्थ को ध्यान में रखकर उसके किसी एक तत्त्व को लेकर ही उसका प्रयोग चल पड़ता है। उदाहरणार्थ—पुलिस के लिए लाल पगड़ी शब्द का प्रयोग है। सोने का सुवर्ण अच्छा वर्ण होने के कारण ही जाना जाता है।

१२. **साहचर्य के कारण गौड़ अर्थ की प्रमुखता**—सबसे पहले सूरत में तम्बाकू के उतरने के कारण उसका नाम सुरती पड़ गया। शक्कर को चीनी एवं नमक को सैंधव साहचर्य के आधार पर ही कहते हैं, क्योंकि इसका सम्बन्ध

चीन एवं सिन्धु से रहा है। सादृश्य के कारण अर्थ-परिवर्तन अज्ञान का सहारा लेकर घटित होता है। इस प्रकार भाषा के अधिकांश परिवर्तन अज्ञान के क्रोध में पलते हैं। आधुनिक काल में संस्कृत का कम ज्ञान रखने वाले साहित्यकारों ने बहुत से संस्कृत शब्दों के अर्थ में परिवर्तन कर दिया है, उनमें से कुछ शब्द तो भाषा में खूब चल पड़े हैं।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त अर्थ-परिवर्तन के अन्य अनेक कारण भी हैं। पीढ़ी-परिवर्तन तथा अन्य भाषा के प्रभाव एवं नवीन वस्तुओं के निर्माण एवं प्रचलन आदि के कारण भी अर्थ-परिवर्तन होता है। मुख-सुख के कारण भी असाधारण लम्बाई वाले शब्दों के लिए छोटे शब्दों का प्रयोग होता है। जैसे—नेकटाई के लिए टाई, रेफ्रीजिरेटर के लिए फ्रिज आदि शब्दों का प्रयोग।

अर्थ-परिवर्तन के कारणों में आन्तरिक और बाह्य, मानसिक और भौतिक अनेक कारण सम्मिलित रूप से सहायक होते हैं।

(२३) प्रश्न—लिपि के उद्भव और विकास पर प्रकाश डालते हुए भारत की प्रमुख प्राचीन लिपियों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—भावों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा का निर्माण हुआ और वाचिक या ध्वन्यात्मक भाषा, जो क्षण-स्थायी होती है, उसे स्थायित्व देने के लिए लिपि का आविर्भाव हुआ। काल और स्थान की सीमा के बन्धन से भाषा को निकालने के लिए लिपि का जन्म हुआ। भाषा अपने मूल रूप में ध्वनियों पर आधारित है, लिपि में उन ध्वनियों को रेखाओं द्वारा व्यक्त करते हैं।

लिपि की उत्पत्ति—भाषा की उत्पत्ति की ही भाँति लिपि की उत्पत्ति के विषय में भी विद्वानों का विचार था कि ईश्वर या देवता द्वारा यह कार्य सम्पन्न हुआ। भारतीय पण्डित ब्राह्मी लिपि को ब्रह्मा की बनाई हुई मानते हैं। इसी प्रकार मिस्री लोग अपनी लिपि का कर्त्ता थाथ या आइसिस को, बेबिलोनिया के लोग नेबो को और यूनानी लोग हर्मेस या पैलमीडस आदि पौराणिक व्यक्तियों को मानते हैं। भाषा की भाँति लिपि के सम्बन्ध में इस प्रकार के मत अन्धविश्वास मात्र हैं। सच यह है कि मनुष्य ने अपनी आवश्यकतानुसार लिपि को स्वयं जन्म दिया। आरम्भ में रेखाएँ खींची गईं तथा चित्र आदि बनाए गए, जिनमें देवता आदि के चित्र होते थे। रस्सी आदि में गाँठें लगाईं गईं, इसके बाद इन्हीं साधनों का प्रयोग अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए किया गया, जो विकसित होते-होते लिपि बन गई।

आज तक लिपि के सम्बन्ध में जो प्राचीनतम सामग्री उपलब्ध है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि ४००० ई० पू० के मध्य तक लेखन की कोई व्यवस्थित पद्धति का कहीं भी विकास नहीं हुआ था। जबकि अव्यस्थित प्रयास १०,००० ई० पू० से ही प्रारम्भ हो चुके थे। इस विकास के मध्य लिपि के विकासक्रम में निम्न रूप मिलते हैं—

१. चित्रलिपि।

२. सूत्रलिपि।

३. प्रतीकात्मक लिपि।

४. भावमूलक लिपि।

५. भाव-ध्वनिमूलक लिपि।

६. ध्वनिमूलक लिपि।

इन लिपियों में मुख्य लिपियाँ—(क) चित्र लिपि, (ख) भावमूलक लिपि एवं (ग) ध्वनिमूलक लिपियाँ हैं। इन पर संक्षेप में विचार इस प्रकार प्रस्तुत है—

(क) **चित्रलिपि**—लिपि का प्राचीनतम रूप इस लिपि में मिलता है। मनुष्य जिस बात को व्यक्त करना चाहता था, उसका चित्र बना देता था। उदाहरण के लिए—पहाड़ के लिए टेढ़ी-सीधी, ऊँची-नीची रेखाएँ बना दी जाती थीं। पशु का प्रदर्शन करने के लिए रेखाओं द्वारा पशु बना दिया जाता था। भावों को स्थायित्व देने का भाव तो था, किन्तु इसकी निम्न सीमाएँ थीं—

१. चित्रों की अनन्तता इसकी सबसे बड़ी त्रुटि थी। जितनी वस्तुएँ अंकित करनी होती थीं, उतने ही चित्र बनाने होते थे।

२. व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का प्रदर्शन असम्भव था।

३. स्थान अधिक घिरता था।

४. सूक्ष्म विचारों या भावों का प्रदर्शन करना एक कठिन समस्या थी।

५. लिपि समयसाध्य थी।

६. चित्र बनाना सबके लिए सम्भव नहीं था।

इस लिपि में उपर्युक्त कमियाँ होते हुए भी 'सर्वबोध्यता' का गुण था। चित्र देखकर समझ में आ जाता था।

(ख) **भावमूलक लिपि**—भावमूलक लिपि या भाव लिपि चित्र-लिपि का ही विकसित रूप है। इस लिपि में भावों को व्यक्त करना सरल हो गया।

उदाहरण के लिए—चित्र-लिपि में सूर्य का चित्र केवल सूर्य को ही प्रकट करता था। यहाँ उससे सम्बन्धित भावों—गरमी और प्रकाश का भी प्रदर्शन होने लगा। भावमूलक लिपि के उदाहरण अमरीका, चीन, अफ्रीका आदि में मिलते हैं। यह लिपि चित्र लिपि से अधिक समुन्नत थी।

(ग) ध्वनि लिपि या ध्वनिमूलक लिपि—भाव लिपि के द्वारा असंख्य भावों एवं विचारों को व्यक्त नहीं किया जा सकता है। इन्हीं भावों एवं विचारों के अंकन की जिज्ञासा ने ध्वनि लिपि को जन्म दिया। इसकी सबसे बड़ी विशेषता ही यह है कि इसमें प्रत्येक ध्वनि को अंकित करने की क्षमता है। इसके चिह्न वस्तु अथवा भाव को चिह्नित न करके ध्वनियों को प्रकट करते हैं। नागरी, रोमन एवं अरबी लिपियाँ इसी तरह की हैं। इसके दो प्रमुख भेद हैं—

१. अक्षरात्मक तथा २. वर्णात्मक।

१. अक्षरात्मक लिपि—इस लिपि में प्रत्येक चिह्न अक्षर को व्यक्त करता है, वर्ण को नहीं। नागरी लिपि अक्षरात्मक ही मानी जाती है। रोमन लिपि वर्णात्मक मानी गई है। अक्षरात्मक लिपि प्रयोग की दृष्टि से तो उत्तम है, किन्तु भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह उपयुक्त नहीं समझी जाती है। क्योंकि इसके अंकन में सभी ध्वनियों का स्पष्ट अंकन नहीं होता, जब कि वर्णात्मक में होता है।

२. वर्णात्मक लिपि—यह लिपि विकास की अन्तिम पीढ़ी मानी जाती है। इस लिपि में सभी ध्वनियों के लिए स्वतंत्र चिह्न होते हैं और किसी भी भाषा का कोई भी शब्द इसमें लिखा जाता है। रोमन को भाषाविज्ञान की दृष्टि से आदर्श लिपि माना जाता है।

सूत्रलिपि में 'सूत' की गुच्छियों आदि में गाँठ लगाकर या विभिन्न प्रकार के रंगों में रंगकर काम चलाया जाता था। इसका उदाहरण पीरू की क्वीपू लिपि है। इसमें विभिन्न लम्बाइयों, मोटाइयों तथा रंगों के सूत लटका अथवा गाँठ बाँध कर विभिन्न भावों को प्रकट किया जाता है। प्रतीकात्मक लिपि—इसमें सूत्र तो नहीं मिलते, किन्तु भाव-प्रदर्शन के लिए विभिन्न प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग होता था। इसका प्रचार प्राचीन कबीलों आदि में आज भी मिलता है। आज भी हल्दी या सुपाड़ी बाँध कर निमन्त्रण दिया जाता है।

भारत की प्राचीन लिपियाँ—सिन्धु घाटी की लिपि को छोड़कर भारत में प्राचीन काल की दो लिपियों के सूत्र सिक्के एवं शिलालेख आदि में मिलते हैं—(क) खरोष्ठी एवं (ख) ब्राह्मी।

(क) **खरोष्ठी लिपि**—इसके प्राचीनतम लेख शहबाजगढ़ी (पंजाब) और मानसेरा में मिले हैं। अशोक के अनेक लेख इस लिपि में पाए गये हैं। अशोक से पूर्व के लेख इस लिपि में प्राप्त नहीं हैं। इसे विदेशी लिपि माना जाता है। इसके नामकरण के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं। खरोष्ठी लिपि की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं—

१. यह लिपि दाएँ से बाएँ हाथ की ओर लिखी जाती है। इसका संबंध अर्मेनियम से जोड़ा जाता है।

२. खरोष्ठी में वर्णों की संख्या ३७ हैं, जो आर्यभाषा की समस्त ध्वनियों को अंकित करने में असमर्थ है।

३. संयुक्ताक्षरों को लिखने के लिए कोई व्यवस्था नहीं है।

४. इस लिपि की मात्राओं में ह्रस्व और दीर्घ को अलग-अलग लिखने की कोई सुविधा नहीं है।

(ख) **ब्राह्मी लिपि**—यह भारत की प्राचीनतम लिपियों में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। ब्राह्मी शब्द की व्युत्पत्ति पर निम्न मत व्यक्त किये जाते हैं—

१. इसके कर्ता को धार्मिक विचारों के आधार पर बह्मा की भाँति माना है। अतः इसका नाम ब्राह्मी पड़ा है।

२. चीनी विश्वकोश में इसके निर्माता ब्रह्म या ब्राह्मी ऋषि माने गये हैं।

३. कुछ लोग ब्राह्मणों द्वारा प्रयुक्त किये जाने के आधार पर इसे ब्राह्मी कहते हैं।

एक अन्य मत के अनुसार ब्रह्म (वेद) की लिपि होने के कारण इसे ब्राह्मी मानते हैं। इस लिपि की निम्न विशेषताएँ हैं—

१. ब्राह्मी एक पूर्ण वैज्ञानिक एवं ध्वन्यात्मक लिपि है, जिसका संबंध चीनी लिपि से जोड़ना बुद्धिसंगत नहीं है।

२. ब्राह्मी बाएँ से दाएँ लिखी जाती है। इसमें वर्णों की संख्या ६३-६४ के लगभग हैं, अतः उसके संकेत पूर्ण एवं व्यापक है। स्वर-व्यंजनों का अलग-अलग होना और उसमें भी पहले मूल स्वर फिर संयुक्त स्वर हैं। व्यंजनों का स्थान एवं प्रयत्न के अनुसार वैज्ञानिक वर्गीकरण किया है।

३. इसके ध्वनि-संकेत भारतीय भाषाओं के अनुरूप एवं लब्धप्रतिष्ठित हैं। यह पूर्णतया भारतीय लिपि है। इसी से आधुनिक लिपियों का विकास हुआ है, जिसमें देवनागरी, शारदा आदि लिपियाँ हैं।

(२४) **प्रश्न**—देवनागरी लिपि का इतिहास देते हुए रोमन एवं फारसी लिपियों की तुलना में इसकी वैज्ञानिकता पर विचार कीजिए।

उत्तर—लिपि के प्राचीनतम प्रमाण पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के मिलते हैं। पाणिनि के काल में ब्राह्मी लिपि प्रचलित थी। ३५० ई० पश्चात् यहाँ ब्राह्मी लिपि की दो शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—(१) उत्तरी शैली एवं (२) दक्षिणी शैली। उत्तरी शैली का विकास निम्न दो लिपियों के रूप में हुआ है—

१. **गुप्त लिपि**—गुप्त राजाओं के काल में इसका प्रचार था।

२. **कुटिल लिपि**—इसमें स्वरों की मात्राओं की आकृति टेढ़ी या कुटिल थी, यह गुप्त लिपि की विकसित शैली है। इससे विकसित लिपियाँ हैं—शारदा एवं नागरी या देवनागरी लिपियाँ।

लिपियों के विकास को निम्न रेखाचित्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।
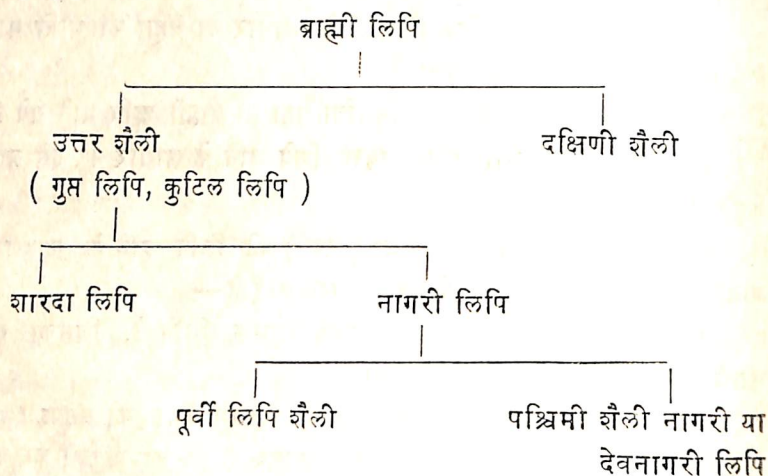
देवनागरी लिपि—वर्तमान देवनागरी लिपि प्राचीन नागरी लिपि के पश्चिमी रूप से विकसित हुई है। नागरी लिपि को नागरी या देवनागरी दोनों

नामों से सम्बोधित किया जाता है। इसका विकास १०वीं शताब्दी ई० से माना जाता है। प्राचीन अभिलेखों की लिखावट के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भीमदेव प्रथम और भीमदेव द्वितीय तथा उदयवर्मन् के अभिलेखों में प्रयुक्त लिपि वर्तमान हिन्दी के बहुत समीप आ गई है। इनमें स्वरों और व्यंजनों की बनावट, वर्णों के ऊपर शिरोरेखा तथा मात्राओं के चिह्न बहुत कुछ वर्तमान हिन्दी के तुल्य हो गया है। इस प्रकार वर्तमान देवनागरी लिपि का प्रारंभ १००० से १२०० ई० तक मानना उचित है।

नागरी या देवनागरी नाम के विषय में पर्याप्त मतभेद है—

१. यह लिपि नगरों में प्रचलित थी, अतः इसे नागरी कहते हैं।

२. गुजरात के नागर ब्राह्मणों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इसका नाम नागरी पड़ा।

३. श्री शाम शास्त्री का कथन है कि देवमूर्तियों के सांकेतिक त्रिकोण या चक्र आदि चिह्नों को 'देवनगर' कहते थे। उसके मध्य में लिखे जाने के कारण इन अक्षरों को देवनागरी कहा गया।

४. देवनगर स्थान से उत्पन्न होने के कारण देवनागरी नाम पड़ा। पुष्ट प्रमाणों के अभाव में कोई भी मत प्रामाणिक नहीं है।

देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता एवं उत्कृष्टता—देवनागरी लिपि में उत्कृष्टता संबंधी वे सभी गुण हैं, जो किसी भी उत्कृष्ट लिपि में आवश्यक होते हैं। जैसे—

१. **ध्वनि तथा वर्ण में सामञ्जस्य**—देवनागरी लिपि में यह सबसे बड़ी विशेषता है कि इसमें उच्चारण के अनुसार ही वर्ण निश्चित किये गये हैं। अतः जो बोला जाता है, वही लिखा जाता है और जो लिखा जाता है, वही बोला भी जाता है।

२. एक ध्वनि के लिए एक ही संकेत—एक ध्वनि के लिए अनेक संकेतों तथा एक ही संकेत के लिए अनेक ध्वनियों की अभिव्यक्ति भी लिपि का बहुत बड़ा दोष है। रोमन तथा अरबी आदि लिपियों में यही दोष है। रोमन लिपि में एक ही 'क्' ध्वनि के लिए अनेक संकेत हैं, जैसे K (King), C (Cat), Q (Queen), Ck (Cuckoo) तथा Ch (Chemistry) आदि। देवनागरी इन दोषों से सर्वथा मुक्त है।

३. **समग्र ध्वनियों की अभिव्यक्ति**—उत्कृष्ट लिपि में यह गुण होता है

कि वह किसी भाषा की समग्र ध्वनियों को लिपि-संकेतों द्वारा अभिव्यक्त कर सकती हैं। देवनागरी में यह गुण सर्वाधिक हैं। रोमन आदि में ठ् तथा ण् आदि ध्वनियों को नहीं लिखा जा सकता है।

४. **असंदिग्धता**—उत्कृष्ट लिपि में एक ध्वनि-संकेत में दूसरी ध्वनि का संदेह नहीं होना चाहिए। अन्य लिपियों की अपेक्षा देवनागरी इस कसौटी पर भी खरी उतरती है। रोमन में U को उ पढ़े या अ, इस प्रकार की भ्रान्तियाँ प्रायः होती हैं।

उपर्युक्त गुणों के कारण देवनागरी लिपि वस्तुतः एक उत्कृष्ट लिपि है। इस लिपि की कुछ न्यूनताएँ भी हैं, जिनका परिमार्जन आवश्यक है। जैसे—१. इ की मात्रा वर्ण से पूर्व लगना अवैज्ञानिक है। प्राचीन ब्राह्मी में यह वर्ण के बाद में लगती थी। २. हलन्त र् को अनेक प्रकार से लिखना। ३. अ ण ल आदि का दो-दो प्रकार से लिखा जाना। ख 'ख' 'र' व, ध-घ, भ-म आदि में स्पष्ट अन्तर का न होना। ४. संयुक्त व्यंजनों का एकरूप में न लिखा जाना। ५. अंग्रेजी, उर्दू आदि की क़, ख़, ग़, ज़ आदि ध्वनियों का देवनागरी लिपि में अभाव। इन कमियों को दूर किया जा रहा है।

(२५) **प्रश्न**—टिप्पणियाँ लिखिए—(१) श्रुति, (२) अभिश्रुति, (३) क्लिक ध्वनियाँ, (४) स्पूनरिज्म, (५) सादृश्य, (६) एसपिरैंतो, (७) मुख-सुख (प्रयत्नलाघव) तथा (८) रूपगाम या रूपिम।

उत्तर—(१) **श्रुति**—इसे अंग्रेजी में Glide नाम दिया गया है। प्रायः लिखने में देखा गया है कि तीव्रता के कारण शब्दों या वर्णों के मध्य कभी-कभी एक रेखा खिंच जाती है। इसी प्रकार उच्चारण करने में कभी-कभी दो ध्वनियों के मध्य एक नई ध्वनि उच्चरित हो जाती है। यही नई ध्वनि श्रुति कहलाती है। स्थान-भेद के कारण यह तीन प्रकार की होती है—अग्रश्रुति, मध्यश्रुति और पश्चश्रुति। जब यह ध्वनि शब्द के आरम्भ में आती है तो अग्रश्रुति होती है। उदाहरण के लिए 'स्' से आरंभ होने वाले शब्दों या अक्षरों से पूर्व 'इ' या 'अ' का प्रयोग होने लगता है। यह केवल बोलने में ही देखा जाता है, लिखित रूप में इसका अभाव होता है। देखिए—'स्थान' को 'इस्थान' या 'अस्थान' बोला जाता है। 'स्टेशन' को इस्टेशन बोला जाता है। इसे पूर्वश्रुति

या On glide कहते हैं। दूसरी प्रकार की श्रुति पश्चश्रुति या परश्रुति मानी जाती है। डॉ० भोलानाथ तिवारी इसे मध्यश्रुति नाम देने के पक्ष में हैं। अग्रस्वर के साथ 'ब' तथा पश्च स्वर के साथ 'व' प्रायः इसी प्रकार सुने जाते है; जैसे—इ-आ (किया) इ-ओ, जियो के बीच य तथा उ-आ (हुवा) के बीच 'व'। जेल से जेहल भी इसी प्रकार है। वस्तुतः यह परश्रुति नहीं है, क्योंकि अन्त में उपर्युक्त स्वर न हो तो श्रुति का आगम नहीं होगा, जैसे—इ-ए (लिए)। श्रुतियों का मुख्य कारण मुख-सुख माना जाता है। आलस्य, निष्क्रियता, असावधानी भी इसके कारण हैं।

(२) **अभिश्रुति**—अभिश्रुति एक विशेष प्रकार का ध्वनि-परिवर्तन है, जो ग्रिम द्वारा प्रदत्त Umlaut का हिन्दी रूपान्तरण है। इसका सामान्य अर्थ है—शब्द के किसी आंतरिक स्वर में बाद के अक्षर में आने वाले किसी अन्य स्वर के कारण परिवर्तन। पेई आदि कुछ विद्वानों के अनुसार कोई अन्य स्वर, अर्द्धस्वर या व्यंजन के कारण भी कभी-कभी यह परिवर्तन हो जाता है। ब्लूमफील्ड और ग्रे इसे स्वर का पश्चगामी समीकरण मानते हैं।

अभिश्रुति जर्मन की प्रमुख विशेषता है। इसमें कभी तो एक स्वर दूसरे के पूर्णतः अनुरूप हो जाता है, कभी पूर्वतः अनुरूप न होकर भी प्रकृति के समीप पहुँच जाता है। जर्मन भाषा का निम्न उदाहरण देखिए—प्राचीन जर्मन harja, मध्यकालीन जर्मन haria, पुरानी अंग्रेजी here (सेना)। यहाँ j के कारण a बदलते-बदलते e हो गया। डॉ० चटर्जी के अनुसार बंगला में भी यह प्रवृत्ति है, मध्य बंगाली हारिया, आधुनिक बंगाली हेरे (खोकर)। अभिश्रुति में यह भी द्रष्टव्य है कि प्रभावित करने वाला स्वर भी समाप्त हो जाता है।

(३) **क्लिक ध्वनियाँ**—जिन ध्वनियों के उच्चारण में वायु बाहर से भीतर खींची जाती है, ये ध्वनियाँ क्लिक ध्वनियाँ कहलाती हैं। ये सामान्य से विपरीत होती हैं, क्योंकि सामान्य ध्वनियों के उच्चारण में वायु अन्दर से बाहर निकाली जाती है। इन ध्वनियों को अन्तर्मुखी द्विस्पर्श या अन्तःस्फोट द्विस्पर्शी भी कहते हैं। इनके उच्चारण में स्पर्श दो स्थानों पर होता है। एक स्पर्श कोमल तालव्य और दूसरा इसके निकटवर्ती होता है। इन ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा एवं मुख-विवर की मांसपेशियाँ कड़ी हो जाती हैं। क्लिक ध्वनियों का प्रयोग मुख्य रूप से दक्षिणी अमेरिका की भाषाओं में होता है,

किन्तु अब इनसे अलग भाषाओं में भी इनका प्रयोग होने लगा है। हिन्दी में 'च् क्', 'टिक् टिक्' का प्रयोग ऐसा ही है। क्लिक ध्वनियों का प्रयोग बुसमैन, बाँटू, होटेंटोट एवं अमरीका आदि भाषाओं में प्रमुख रूप से होता है।

(४) **स्पूनरिज्म**—यह आद्य शब्दांश-विपर्यय है। अर्थात् यह ध्वनि-परिवर्तन की दिशाओं में से विपर्यय का ही एक भेद है। विपर्यय में शब्द के स्वर, व्यंजन या अक्षर एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं और दूसरे स्थान के प्रथम स्थान पर पहुँच जाते हैं। जैसे—अमरूद से 'अरमूद'; इसमें 'म्' और 'र्' ध्वनियों ने एक-दूसरे का स्थान ग्रहण कर लिया है। स्पूनरिज्म में साथ-साथ के दो शब्दों के अगले अंशों का विपर्यय हो जाता है। जैसे—पोने-नौ के स्थान पर नोने-पौ हो जाना। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के डॉ० डब्ल्यू० ए० स्पूनर साहब से इस प्रकार का विपर्यय अक्षर हो जाता था। इसीलिए इनका नाम स्पूनरिज्म पड़ गया। उदाहरण के लिए—Loving shephrred के स्थान पर Shoving Leopard; Two bags and a reeg के स्थान पर Two rags and a bug. एक और रोचक उदाहरण—You have wasted the whole term के स्थान पर You have tested the whole worm. हिन्दी में इस प्रकार के उदाहरण कुछ शब्दों में मिलते हैं।

(५) **सादृश्य**—मनुष्य स्वभावतः सरलता का प्रेमी होता है। उसका यह स्वभाव भाषा में भी परिलक्षित होता है। वह किसी पुराने शब्द को किसी पुराने शब्द के वजन पर उसकी आकृति के साँचे में ढाल लेता है और इस प्रकार बने शब्द रूप की दृष्टि से समान हो जाते हैं। जैसे—संस्कृत में द्वादश के वजन पर संस्कृत वालों ने 'एकदश' को 'एकादश' बना लिया। सैंतिस और सैंतालिस की अनुनासिकता पैंतीस और पैंतालिस के सादृश्य पर ही आधारित है। भाषा में एक प्रयोग को देखकर उसके कारण को जाने बिना ही, उसी प्रकार का दूसरा प्रयोग करना भाषाविज्ञान में सादृश्य या मिथ्यासादृश्य कहलाता है। वस्तुतः सादृश्य के मूल में मानव की मानसिक आलस्य की प्रवृत्ति ही कार्य करती है। ब्रील आदि के अनुसार भाषा के आरम्भ में ही मानव सादृश्य का सहारा लेने लगा था।

भाषाविज्ञान के ध्वनि, रूप, वाक्य और अर्थ इन सभी प्रमुख अंगों में में सादृश्य काम करता है। ध्वनि-परिवर्तन या रूप-परिवर्तन में सादृश्य का प्रमुख हाथ होता है। ध्वनि के क्षेत्र में संस्कृत शब्द में करिन् से तृतीया विभक्ति

एकवचन में बने 'करिणा' के सादृश्य पर हरि (न् के अभाव में भी) से हरिणा तथा रूप के क्षेत्र में पादौ में द्विवचन के आधार पर लाभा लाभौ में भी द्विवचन का प्रयोग सादृश्य के आधार पर ही होता है। अंग्रेजी में shall और will से बने should और would के सादृश्य पर ही Can (यहाँ l ध्वनि न होने पर भी) से भी could बना लिया गया है।

वास्तव में सादृश्य के आधार पर बने रूपों को स्मरण रखने में मनुष्य को सुविधा होती है, अतः सादृश्य के आधार पर ऐसे शब्द बनते रहते हैं। भाषा के क्षेत्र में सादृश्य का बहुत महत्त्व है। इसके कारण भाषा में प्राप्त अपवादों में नियमबद्धता आ जाती है तथा भाषा सरल बन जाती है।

(६) **एसपिरैंतो**—यह विश्व की एक भाषा की कल्पना है। इनके जनक एल० एल० जमेनहॉफ हैं। इनको यूरोपीय भाषाओं को लिखने, पढ़ने और बोलने का महारथ प्राप्त था। जमेनहाफ एक कुशल भाषा-विद् थे। आपने सम्पूर्ण जीवन इस कृत्रिम भाषा 'एसपिरैंतो' के लिए लगाया। सन् १८८७ ई० में विश्व के समक्ष इसका रूप रखा। आरम्भ में लोग इसे न समझ सके, किन्तु कालान्तर में इसकी उपयोगिता एवं महत्त्व को पहचाना जाने लगा। इसके प्रचार-प्रसार के लिए इसके नाम से एक संस्था खोली गई। लीग ऑफ नेशन्स ने इसे पढ़ाए जाने का अनुरोध किया। बाद में इसे टेलिग्राफिक संघ ने स्पष्ट घोषित किया। सन् १९२७ ई० में विश्व के ४४ आकाशवाणी केन्द्रों ने इसके सम्बन्ध में और इस भाषा में भाषण दिये। अब दिल्ली में इसे पढ़ाने का प्रबन्ध है।

इसमें अनुवादित पुस्तकों की संख्या काफी है। कुछ मौलिक ग्रन्थ भी रचे गए हैं। अनेक पत्रिकाओं के अतिरिक्त इसमें ४००० के लगभग पुस्तकें हैं। बाइबिल का अनुवाद बहुत महत्त्वपूर्ण अनुवादों में से है।

इसका स्वाभाविक विकास नहीं हुआ और यह भाषा जीवित भाषा नहीं है। यह किसी क्षेत्र या देश की भाषा नहीं है, किन्तु यह एक उपयोगी और सरल भाषा है।

'एसपिरैंतो' लैटिन का शब्द है, जिसका अर्थ है—आशापूर्ण। इसके जनक ने इसके सोलह नियम विश्व के अनेक व्याकरणों का विश्लेषण करने के पश्चात् बनाए थे, जो कम एवं आसान हैं। सादृश्य का इसमें बहुत हाथ है। यह अश्लिष्ट-योगात्मक भाषा है। यहाँ सम्बन्ध तत्त्व बिलकुल स्पष्ट रहते हैं, जैसा

कि तुर्की में होता है। डॉ० भोलानाथ तिवारी द्वारा उद्धृत उदाहरण—कैट (Kat)=बिल्ली, इन (in) स्त्रीलिंग का चिह्न, (id) इड=बच्चों का चिह्न, एट (et) छोटे का चिह्न, ओ (O)=संज्ञा का चिह्न।

एक बिल्ली=कैट-इन-ओ (Kat-in-O)

एक बिल्ली का बच्चा=कैट-इड-ओ (Kat-id-O)

इस प्रकार से पद बनाने के लिए प्रत्यय जोड़ने पड़ते हैं। इस भाषा में कोई अपवाद नहीं है। इसकी लिपि रोमन है। निश्चित नियमानुसार जो लिखा जाता है, वही पढ़ा जाता है। शब्द-समूह भारोपीय है। शब्द धातु पर आधारित है, जो अधिकांश लैटिन भाषा से लिये गये हैं।

(७) **मुखसुख (प्रयत्नलाघव)**—मानव का यह स्वभाव है कि वह कम से कम प्रयत्न से अधिक से अधिक सफलता प्राप्त करना चाहता है। शारीरिक प्रयत्न के मूल में मानसिक आलस्य रहने के कारण डॉ० रामविलास शर्मा ने इसे मानसिक आलस्य के रूप में ही स्वीकार किया है।

किसी भी भाषा के परिवर्तन या विकास में प्रयत्नलाघव बहुत ही महत्त्वपूर्ण कारण है। सादृश्य या मिथ्यासादृश्य का कारण भी यह प्रयत्नलाघव ही है।

ध्वनि-परिवर्तन के क्षेत्र में यह अनेक दिशाओं में कार्य करता है। यथा—

कहीं किसी ध्वनि का आगम हो जाता है; जैसे—स्टेशन से इस्टेशन। यहाँ 'इ' ध्वनि का आगम हो गया है।

कहीं किसी ध्वनि का लोप हो जाता है; जैसे—स्टेशन से टेशन। यहाँ स् ध्वनि का लोप हो गया।

ध्वनियों में स्थान-विपर्यय हो जाता है; जैसे—चाकू से काचू। भिन्न ध्वनियाँ समान हो जाती हैं; जैसे—चक्र से चक्का। यहाँ र् से क् हो गया है। समान ध्वनियाँ भिन्न-भिन्न हो जाती हैं; जैसे—कंकण से कंगन। यहाँ क से ग हो गया है। संयुक्त ध्वनियाँ असंयुक्त हो जाती है; जैसे—कृष्ण से किशन।

इस प्रकार प्रयत्नलाघव (प्रयत्न की लघुता) के प्रयास में शब्दों को सरल बनाते हैं या सरलता के लिए कभी तो बड़ा और कभी छोटा बना डालते हैं, या कभी केवल कठिन संयुक्त व्यंजनों आदि को सरल कर देते हैं जैसे—कृष्ण का कन्हैया, कान्हा या किशन, भक्त का भगत, प्वाइंट्स मैन का पैट मैन, स्टेशन का टेशन, धर्म का धरम, बीबीजी का बीजी, गोपेन्द्र का गोबिन।

प्रयत्नलाघव या मुख-सुख कई प्रकार से लाया जाता है, जिनमें स्वर-लोप (जैसे—अनाज से नाज या एकादश से ग्यारह), व्यंजन-लोप (जैसे—स्थाली से थाली), अक्षरलोप (शहतूत से तूत), स्वरागम (स्काउट से इस्काउट), व्यंजनागम (अस्थि से हड्डी), विपर्यय (वाराणसी से बनारस), समीकरण (शर्करा से शक्कर), विषमीकरण (काक से काग) आदि प्रमुख हैं ।

८. **रूपग्राम या रूपिम**—रूपग्राम को स्वनिम के साम्य पर रूपिम भी कहा जाता है । यह रूप-विज्ञान की आधुनिकतम विकसित शाखा है । अपने नवीन रूप में यह शाखा अपनी किशोरावस्था में ही है, तथापि भारत में पाणिनीय व्याकरण इसका अत्यन्त विकसित एवं उत्कृष्ट उदाहरण है ।

रूपग्राम-विज्ञान में भाषा-विशेष में प्रयुक्त रूपों या पदों के अध्ययन द्वारा रूपग्रामों एवं संरूपों का निश्चय किया जाता है । इस निश्चय का आधार वितरण एवं अर्थ होता है । रूपग्राम के अन्तर्गत निम्न विषयों का अध्ययन किया जाता है—

१. रूपग्राम या रूपिम ।
२. संरूप ।
३. रूप-ध्वनिग्राम-विज्ञान ।

१. **रूपग्राम या रूपिम**—वाक्य में प्रयुक्त छोटी से छोटी सार्थक इकाई रूपग्राम या रूपिम होती है । अर्थात् 'रामः गीतां पठति' इस वाक्य में तीन रूप या पद हैं तथा रामः में राम + :, गीताम् में गीता + अम् और पठति में पठ + ति । इस प्रकार छह रूपग्राम या रूपिम हैं । ये सभी छह रूपग्राम यहाँ सार्थक हैं तथा वाक्य की छोटी से छोटी इकाई हैं । रूपग्राम कई प्रकार का होता है—

(क) **मुक्त रूपग्राम**—वह रूपग्राम, जो एकाकी प्रयोग में आता है, मुक्त रूपग्राम कहा जाता है । इसका प्रकार कभी किसी अन्य रूपग्राम के साथ नहीं होता है । अयोगात्मक वर्ग की चीनी आदि भाषाओं में मुक्त रूपग्राम के उदाहरण अधिक मिलते हैं ।

(ख) **बद्ध रूपग्राम**—वह रूपग्राम, जो सदैव किसी अन्य रूपग्राम के साथ ही प्रयुक्त होता है । हिन्दी में पुंल्लिग शब्दों को स्त्रीलिंग बनाने वाले तथा भूत-काल को प्रकट करने वाले सभी रूपग्राम इसी कोटि में आते हैं; जैसे—लड़का से लड़की में ई, मर से मरा में आ (T) बद्ध रूपग्राम हैं ।

(ग) **मुक्त-बद्ध रूपग्राम**—वह रूपग्राम, जो कभी मुक्त रहता है तथा कभी बद्ध। उदाहरण के लिए—'पुरुष' एकाकी अर्थात् मुक्त रूप में भी प्रयुक्त हो सकता है तथा राजपुरुष, भद्रपुरुष आदि में बद्धरूप में भी प्रयुक्त होता है।

अर्थ की दृष्टि से भी रूपग्राम के ये ही तीन भेद किये जाते हैं—

(घ) **संयुक्त रूपग्राम**—यदि किसी पद में एक से अधिक रूपग्राम प्रयुक्त होते हैं, किन्तु उनमें केवल एक ही अर्थतत्त्व हो तो उसे संयुक्त रूपग्राम कहते हैं। जैसे—घरों, नगरों आदि में घर और नगर एक-एक ही अर्थतत्त्व हैं। संस्कृत में बालक: बालका: आदि में भी बालक एक ही अर्थतत्त्व है।

(ङ) **मिश्रित रूपग्राम**—जहाँ एक से अधिक अर्थतत्त्व हों; जैसे—संस्कृत-पुस्तक या राजपुरुष आदि। यहाँ एक ही रूप में दो-दो अर्थतत्त्व एक साथ संयुक्त हैं।

(च) **अर्थदर्शी रूपग्राम**—इसी को अर्थतत्त्व भी कहा जाता है। यह रूप-ग्राम केवल अर्थ प्रकट करता है। प्राचीन वैयाकरणों ने इसका प्रातिपदिक और धातु नाम दिया है। प्रत्येक भाषा का आधार यही रूपग्राम होते हैं। अत: भाषा में इन्हीं की संख्या सर्वाधिक होती है। राम, हरि, लता, फल आदि प्रातिपदिक तथा पठ्, गम्, हस् आदि धातु इसके असंख्य उदाहरण हैं। संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया और क्रियाविशेषण आदि इसी अर्थदर्शी रूपग्राम के भेद हैं।

(छ) **सम्बन्धदर्शी रूपग्राम**—इस रूपग्राम का प्रमुख कार्य पदों के पारस्परिक सम्बन्ध को प्रकट करना होता है। इसे ही सम्बन्धतत्त्व भी कहा जाता है। संस्कृत में सुप् और तिङ्, हिन्दी के परसर्ग (ने, से आदि) तथा अन्य प्रत्यय इसी के अन्तर्गत हैं। यह अनेक प्रकार का है। बलाघात एवं सुर आदि ऐसे सम्बन्धदर्शी रूपग्राम हैं, जिन्हें तोड़कर अर्थतत्त्व से पृथक् नहीं किया जा सकता, अत: इन्हें अखण्ड रूपग्राम भी कहते हैं। इसके विपरीत अन्य रूपग्रामों को अर्थतत्त्व से पृथक् करके खण्डित किया जा सकता है, अत: इन्हें खण्ड-रूप-ग्राम कहा जाता है।